अकविता
और
कला-सन्दर्भ

डॉ० श्याम परमार

•

प्रथम संस्करण : सितम्बर १९५८

•

मूल्य
बारह रुपया

•

प्रकाशक :
जयकृष्ण अग्रवाल
कृष्णा ब्रदर्स,
कचहरी रोड,
अजमेर.

•

प्रस्तावना

पिछले कुछ वर्षों में लिखे गये इन फुटकर लेखों और टिप्पणियों को एक स्थान पर प्रस्तुत करते हुए मुझे स्व० मुक्तिबोध की एक बात याद आती है : 'साहित्य के लिये साहित्य में निर्वासन आवश्यक है।' समीक्षा की प्राणु-पद्धति और विवेचन की सुसम्बद्ध शैली-विहित इस सामग्री में मेरा दायित्व निर्वासित है, क्योंकि उसे स्थिर अभिरुचियों और जड़ स्वीकृतियों के प्रति धैर्य नहीं।

साहित्य में बढता हुआ कलागत वैविध्य और अन्तरावलम्बित सम्भावनाएँ समीक्षा को अनेक स्तर और निरसग तर्क-सगति प्रदान करते हैं। मेरा विश्वास है कला-सन्दर्भों से शून्य साहित्य-समीक्षा की स्थिति मृत होती जा रही है। उसकी उखड़ी हुई श्वास केवल विश्व-विद्यालयों के शैक्षणिक मूल्यों में अवशिष्ट है। उसे अब नये संस्कारों की आवश्यकता है।

मैं नहीं जानता, मेरी इस पुस्तक में संकलित विविध लेख इस दृष्टि से कहाँ तक सार्थक हैं। इनमें, बहुत सम्भव है, पाठक वैचारिक विरोधाभास की गंध अनुभव करें। उस स्थिति को मैं समय से जुड़ी हुई चेतन-प्रक्रिया से भिन्न नहीं मानता। साहित्य में निर्वासन, वास्तव में, थिर-मान्यताओं की कमजोर होती हुई जड़ों में मौजूद है। इसलिए, मेरा विश्वास और भी दृढ होता जा रहा है कि भावी समीक्षा साहित्य से—जिसमें निर्वासित होने की बात मुक्तिबोध ने कही उससे—बाहर अनेक विधाओं से प्रभाव-सम्पृक्त होगी।

प्रस्तुत पुस्तक में संकलित लेख और फुटकर विचार 'ज्ञानोदय' (कलकत्ता), 'कल्पना' (हैदराबाद), 'आलोचना' (दिल्ली), 'माध्यम' (प्रयाग), 'धर्मयुग' (बम्बई), 'आजकल' (दिल्ली), 'उत्कर्ष' (लखनऊ), ... पत्रिका' (कलकत्ता), 'कृतिपरिचय' (जबलपुर) और 'राष्ट्रवाणी' में समय-समय पर छपे हैं। इन्हें एक सकलन के रूप में उपलब्ध

क्रम

१. अकविता सन्दर्भ : एक चर्चा / १
२. अन्वय विसंगतियों का सन्तुलित विक्षोभ / १८
३. प्रक्षेपात्मक काव्य स्थिति / २६
४. बीट, बीटल, नाराज और भूखे-प्यासे / ३२
५. समकालीन हिन्दी कविता की दशा / ३७
६. परम्परा : अर्थ गर्भ मौन : अकविता / ४३
७. अ (—आस्थावान) गीत और वर्षों पर पड़ी हुई गर्द / ४८
८. बाहर निकलने की छटपटाहट : कविता / ५७
९. घायल दिशाओं में टूटे हुए आकाश की तलाश / ६४
१०. हिन्दी काव्य में रंगतत्व / ८०
११. शमशेर···आईने के पीछे / १०२
१२. मुक्तिबोध / १०७

टिप्पणियाँ

१३. 'तार सप्तक' : कुछ साधारण तथ्य / ११५
१४. परम्परा की खोज में (?) 'तार सप्तक' के कवि / १२१
१५. 'तार सप्तक' का नया जन्म / १२६
१६. दो औपन्यासिक कृतियाँ / १३०
१७. कुछ स्थापित कवियों की पीढ़ी / १३४
१८. एक पत्र और पत्रोत्तर / १३६
१९. गरम हवाओं का कोलाहल / १४३
२०. पड़ोसी साहित्य / १४५
सन्दर्भिका / १४६

अकविता सन्दर्भ : एक चर्चा

अकविता की चर्चा किसी वाद की चर्चा नहीं है। इसे काव्यान्दोलन या प्रवाद कहना भी अनुचित होगा। आरोप के लिए अकविता के प्रश्न को गुट या आन्दोलन कहने में बहुतों को आसानी होती है। सहज उद्भूत किसी वैचारिक प्रक्रिया को पूर्वाग्रहों से मुक्त दृष्टि से आत्मसात् करना प्राय कठिन होता है। उसे सतही स्थितियों के आधार पर हल्के स्तर की आलोचना का विषय बना लेना स्वाभाविक है। ऐसा उनके लिए और भी अधिक अनुकूल होता है जो पूर्ववर्ती काव्यान्दोलनों से प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके हैं। आलोचना के दायरे में, सुविधा के लिए, इस प्रकार जो सामयिक धारणाएँ बनायी या बना ली जाती हैं उनके फलस्वरूप, प्राय, परिवर्तित होती हुई काव्य प्रवृत्तियों के सूक्ष्म आयाम बहुत समय तक निश्चिन्हित बने रह सकते हैं। ऐसी स्थिति में अकविता शब्द में रजित 'अ' की निहिती को निषेध के अर्थ में ग्रहण किया जाना बहुतों को स्वाभाविक लगता है। 'अ' में असुरक्षा की प्रतीति भी सतही ख्याल से अधिक भासित नहीं होती। किन्तु तथ्य यह है कि अकविता सम्पूर्ण रूप से निषेध काव्य नहीं है। समस्त आरोपों के बावजूद वास्तविकता अब यह है कि 'अकविता' शब्द क्रमश हिन्दी कविता में उभरते हुए नये अंदाज के लिए एक पारिभाषिक शब्द ही चला है। अतएव अकविता कविता-विरोधी शब्द नहीं रह गया। उसे 'एन्टी' या 'नान पोएट्री' कहना भी उतना ही गलत है जितना कि यह आरोपित करना अकविता में कविता नहीं है।

·· अकविता अन्तर्विरोधों की अन्वेषक कविता है। इसे पूर्ववर्ती काव्य प्रवृत्तियों से अलग सन्दर्भ में समझना होगा, क्योंकि यह विच्छेद की द्योतक प्रक्रिया है। विच्छेद अपनी औपचारिकता में, उन सतत मान्यताओं से जिनका सन्दर्भ अब व्यर्थ होता जा रहा है। स्पष्ट है, अनुभूति की संवेदना व्यक्ति को उसके बोझिल अतीत से काटती चलती है। ऐसा उस स्थिति में सम्भव होता है जब निजी मन स्थितियों को व्यक्ति स्पष्ट निर्ममताओं से ग्रहण करे और परम्पराओं के सूत्रों को अन्धासक्ति से थामे नहीं, तथा वह स्वयं से अलग न होकर केवल कविता के रूप में ही अपनी दोहरी सत्ता से मुक्त हो जाये अथवा मुक्त होने की छटपटाहट अनुभव करे।

संतों के स्वान्तः सुखाय में और मनुष्य की तमाम गतिविधियाँ आश्रित होती गयी। आश्रय की इस आत्मरम्यता से निर्गत ने उनके भावना जगत की रीढ़ को तोड़ दिया। संवेदनाएँ उथली और अनुत्सुक होती गयीं। तथाकथित नयी कविता जिस बौद्धिकता के मार्ग से संवेदना को ग्रहण करती रही उसका अंतर्विरोध यथार्थ बुद्धि की संवेदनशीलता से संचित रहा। अवाक् होता हुआ नयी कविता का मन प्रत्येक वस्तुनिष्ठ अनुभूति को संपूर्ण सतह से पकड़ने के लिए आतुर और उन्मुख अवश्य रहा, किन्तु प्रमेय (थियोरम) की तरह 'क्वाड एरट डिमांस्ट्रेटम' की परिणति में, मोतामियन चिन्तन का कामी और रूमानी व्यंग्य का पोषक बनकर, चमत्कारी प्रयोगों में ही कविता के नाविन्य को सहेजता रहा।

उन्नीस-सौ-चालीस के पश्चात् छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि यथार्थ की ओर आकृष्ट होने लगी। राष्ट्रीय चेतना से सम्पृक्त काव्यधारा ने 'गौरवशाली' अतीत को प्रश्रय देने के साथ ही देश की गरीबी और पीड़ाओं को भी देखा, मगर यह दृष्टि यथार्थ की ओर मात्र संवेदना-विगलित ही रही। 'ग्राम्या' में पंत पहली बार जीवन की वास्तविकताओं की ओर मुड़े। भाषा और विषय दोनों दृष्टियों से उनके काव्य ने नयी कविता के लिए एक भावभूमि की सृष्टि की। रामविलास शर्मा की कतिपय कविताओं से होती हुई देशज शब्दों की गंध नयी कविता में आयी। लेकिन देश में सामाजिक चेतना के साथ जो राजनयिक तेजी और अर्थव्यवस्थाओं की परिवर्तित स्थितियों के परिणामस्वरूप जो समस्याएँ सामने आ रही थी उनके लिए तात्कालीन कविता के प्रतिमान पर्याप्त नहीं थे। शिल्प और शब्द पंगु हो गये थे। यहीं आकर प्रयोग की सम्भावनाएँ स्पष्ट हुईं। छंदमुक्त शैली और मुक्त वृत्तों में देशज एवं बाह्य छंद प्रकारों को विकृत कर तुकांत विराम और गद्यवत छोटी-बड़ी पंक्तियों में प्रायोगिकता को प्रमाणित किया गया। 'तार सप्तक' (1943) छायावाद के मध्यवर्ती विकास का एक पक्ष था और उसका आगामी पक्ष नयी कविता हुआ। अतः गीत की दुनिया में आँख खोलने वाला छायावाद अपनी परिणति में 'नवगीत' तक आया। उसमें व्यक्त बौद्धिक उन्मेश आज भी, अनेक पुराने अभिप्रायों और व्यञ्जनाओं में, देशज अभिवृत्ति का ही सूचक है।

आज की कविता में जिस ढंग से वस्तु सन्दर्भों को स्वीकृति दी जा रही है या दी जा सकती है, वह 'अर्थ लोप' की स्थिति नहीं होगी। उसे संवेदना-विहित, बेलौस और निर्मम मन स्थिति कहना अधिक उचित होगा। वह ऐसी स्थिति होगी जिसमें साक्षात के प्रति निर्णायक एवं निश्चयात्मक कथ्य की क्षमता है—मगर किसी अंतिम स्वीकृति और उपादेयता की तनिक भी आकांक्षा नहीं। आक्रोश यहाँ एक उबाल होगा—उद्बुद्ध बोध का रूमानी सहजा। किसके प्रति आक्रोश? तीव्र प्रतिक्रियाओं का सार्थक महत्व ही

जिम्मा है ? परिणति हर स्थिति में जब निरर्थक ही साबित होनी है तब किसके प्रति कैसा आरोप ? यंत्र के काले पंजों में फंसा हुआ मनुष्य जीने के लिए जिन नियंत्रित दिशाओं में समाधान खोजता है, वे सभी दिशाएँ दरकी हुई हैं। उनका खोखलापन भावप्रवण आमावृत्तों से समय-समय पर ढंक दिया जाता है। नयी कविता ने परम्परा-विच्छिन्न जिस स्थिति को 'स्वप्न भंग' की करुणा में जीया उसका अकविता की संचेतना से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। गिरिजाकुमार माथुर ने नयी कविता की 'स्वप्न भंग की स्थिति' को 'वस्तु सत्ता के साक्षात्कार की पहली सीढ़ी' घोषित कर आज की समस्त अस्वीकृतियों को, लगता है, छायावाद के उत्तरार्द्ध से जोड़ना चाहा है। मगर वास्तविकता यह है कि उनका अंत तथाकथित नयी कविता के साथ सातवें दशक के आरम्भ में ही हो गया। उसे 'प्रक्रिया की नियति' उसी सन्दर्भ में माना जा सकता है जिसमें नयी कविता का अवसान हुआ। उसके निरन्तर बने रहने की विडम्बना को अब अनवरत एवं भाव-विह्वलता-विहिन संतुलित विक्षोभ द्वारा बहुत कुछ काट दिया गया है। यंत्रस्थ मानव नियति की उलजलूलताओं को कविता का माध्यम अब वह सुरुचि नहीं दे सकता जिसकी भ्रांति नयी कविता में बहुत समय तक बनी रही। अकविता में अब निरुद्वेग प्रतिक्रियाएँ लक्षित होती हैं। उसके लिए अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। वह अपने समय के बहुल सन्दर्भों को हर स्थिति में संतुष्ट दृष्टि से स्वीकार नहीं कर पाती। मस्तिष्क की सतत व्यस्तता उसकी अभिव्यक्ति को बहुत कुछ अमूर्त की ओर ले जाती है, और जहां वह ताजगी के करीब आती है उसकी व्यञ्जना सीधी और स्पष्ट होती है। तब वह प्रत्येक नाविन्य के लिए अपने परिचित सन्दर्भों को पराया बना लेती है। यह एक प्रकार से अनुताप की प्रतिक्रिया है जो आज के काव्य में अनावृत्त होने लगी है।

नयी कविता ने जिन सतही अनुभूतियों को उपादेय समझा वे 'प्रकट सत्य' की जायी हैं। वे भोगी हुई सार्थकताएँ नहीं, बल्कि परानुभूतियों के हिन्दी संस्कार हैं। नयी कविता की आधुनिकता आंख मूंद कर ओढ़ी गई 'आवांगार्द' की मूल्यहीनता थी।

अकविता अवाक् मन की प्रक्रिया नहीं है। सांस्कृतिक अवमूल्यन की जिस अवस्था में आज का व्यक्ति-मन सार्थक वास्तविकताओं को 'एब्सर्ड' मानता है, उस अवस्था में वैज्ञानिक उपलब्धियाँ और दिशाहारी दौड़ में खिन्न बौद्धिक चेतना अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं को व्यर्थ मानती है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में स्वयं दास्तोवस्की ने अतर्क्य अर्थहीनता की स्थिति को मनुष्य के लिए वांछित माना था, क्योंकि एब्सर्ड स्वाभाविक सत्य है। इसलिए बौद्धिक नियमों से बद्ध ज्यामिति रूपा व्यवस्था के वह सख्त खिलाफ रहा। सौन्दर्य की जिस शक्ति को वह तर्कातीत व्यवस्था की रक्षा के लिए स्वीकार

किये रहा वह खंडित और गतिमान वस्तु थी। उसमे परिवर्तनशीलता सदैव सम्भाव्य रही।

अतएव व्यर्थता और निरर्थकता के प्रति अकविता की प्रतिक्रिया प्रगटत. उद्वेगविहीन ही होती है। यह जडता की द्योतक स्थिति नही, अपितु उस भ्रम से मुक्ति है जिसमें पूर्ववर्ती कविता की पीढी विज्ञान की अवाक् और मूल्यहीनता की मिथ्या उपलब्धियों में रस लेती रही। अकविता सापेक्ष को 'वास्तविक स्थिति' मे स्वीकारती है, उसका मूल्यांकन नही करती, उसे प्रतिष्ठा नही देती। प्रतिष्ठा और उपलब्धि का अहसास उसके परिवर्त्य-क्रम को जर्जर करता है, उसमे जडता को प्रश्रय देता हैं।

मनुष्य का आस्तित्व भटकाव के रास्ते से गुजर रहा है। स्पेंग्लर ने जिस 'हिम बिन्दु' की कल्पना की थी, वह आज की संस्कृति मे आ गया है। टूटन और अन्ध-विकास की बहुमार्गी दौड मे मनुष्य का आन्तरिक तत्व सड़ने लगा है। एक खोखले आस्तित्व और आहत शून्य मे उसका भविष्य खडा है। किर्केगार्द ने (1813-55), जो कि दास्तेवस्की के पूर्व हुआ, मनुष्य जन्म को नियति द्वारा लादा हुआ दड स्वीकार किया है, और उसके लिए किर्केगार्द मानता है कि हर व्यक्ति दुनिया से बदला लेता है। बदले की इस भावना मे मनुष्य विवशताओ की यातना से गुजरता है। उसे दिशाएँ अवरुद्ध लगती हैं। वेदना से आवृत्त उसके आस्तित्व की नियति बंधे हुए व्यक्ति की भ्राति है। अन्तत. उसका स्वातन्त्र्य माया-दर्पण का थोथा अभिशाप सिद्ध होता है।

अंतरिक्ष भेदन और आणुविक शक्ति के नियमन के साथ ही मनुष्य जितना भौतिक उपलब्धियो को प्राप्त करता है उतना ही वह साहित्य एवं कला के प्रति आस्तित्ववादी तत्वो से ग्रस्त होता है। आवश्यक नही कि उसकी चेतना केवल स्थूल वैज्ञानिकता से ही परिमापित हो। बौद्धिक स्तर पर वह जिस दर्शन अथवा वैचारिकता को उपलब्ध करना चाहती है उसके लिए साहित्य-शास्त्र की उच्चासीन मान्यताओ से मुक्त होकर उसका वैज्ञानिक माध्यमो से सीधे सम्बन्धित होना बहुत अपेक्षित है। क्योंकि उसके बिना वैज्ञानिक सम्भावनाओं में बद्ध महत्तर स्वप्न की अंतिम परिणति कल्पित नही की जा सकती, निश्चय ही वह एक व्यापक विस्फोट के रूप में घटित हो सकती है। अतः वैज्ञानिक व्यवस्था के प्रति आस्थावान वही तक हुआ जा सकता है जहाँ तक कि उसका विस्फोट-बिन्दु नहीं आता। आस्थाग्रस्त विश्वासों के माध्यम से हम अन्तत: विनाश और शून्य को ही प्राप्त करेंगे, ऐसा प्रायः लगता है।

आस्तित्व की जिस निजी सत्ता को सिद्धान्तों की रूढ़ पद्धतियों द्वारा आरोपित किया गया है उसे बाह्य अस्तित्व से मुक्त नहीं कहा जा सकता। उस 'व्यक्ति सत्ता' को पारस्परिक सम्पर्कों एवं आक्रान्त बाह्य के भीतर से 'निजी वास्तविकताओं' में उपलब्ध करना अकविता की सम्भावित दिशा हो सकती है। काम्यूसें की दृष्टि में जो बाह्य संघर्ष आस्तित्व के लिए अनिवार्य शर्त है, उनसे हटकर अन्तर्मुखी विवशताओं की दिशाहीनता से निश्चय ही इन 'निजी वास्तविकताओं' की रोशनी अलग है। दर्शन की भूमि पर कविता की यह दिशा मार्टिन हेडगर और ग्रेबील मार्शल से अवश्य कुछ अंशों में सहमत हो सकती है। समग्र बाह्य, व्यक्ति-रुचियां, व्यवहार, सम्बन्ध और सामान्य नियमन मनुष्य के अनियत अस्तित्व को कुछ उत्तरदायित्वों में बांधते हैं। बंधन की यह स्थिति व्यक्तिपरक आस्तित्व को कई रूपों में विनष्ट करती है। हम अनेक बाहरी आवरणों के भीतर टूटते रहते हैं। टूटन की अभिव्यक्ति के लिए जिन माध्यमों का इस्तेमाल किया जाता है वे भी अभिव्यक्ति-प्रक्रिया में वास्तविक तथ्यों को अलग कर देते हैं। प्रयोजनीय स्थिति तक आते आते फिर एक विच्छेद की स्थिति बन जाती है। इसे अलगाव या छुपाव की स्थिति भी कहा जा सकता है। हेडगर छुपाव की इस स्थिति का कारण बाह्य अवस्था का भय मानते हैं। अधुनातन काव्य की सम्भावित कोशिश इस भय से मुक्त होकर विच्छेद को कम करना है। मृत्यु को अनिवार्य मानकर भी अपने निजत्व को पूर्ण विवेक के साथ स्वीकार कर लेना ···· और विच्छेद की त्रासदी को पहचानकर भी पूर्ण 'नास्तिभाव' की पदार्थगत नियति को

स्वीकार कर लेना‥ । किन्तु इस स्वीकृति मे भी आस्तित्व का सम्बन्ध शरीर से अलग नही होगा । शरीर सापेक्ष 'मैं' के प्रति अकविता का दिशा-संकेत इस प्रकार आस्तित्वादी मान्यता के विपरीत है। इसलिए ग्रेवील मार्शल जब भ्रांतियों के निराकरण पर बल देता है, तब वह परावर्तित अनुभूति की आवश्यकता को स्वीकार करता है । इस सन्दर्भ मे अकविता प्रथम अनुभूति का अहसास अथवा कच्ची अनुभूति नही, बल्कि शरीर और 'मैं' के समझौते की प्रतिक्रिया 'है । आस्तित्ववादी चिन्तन की अंधी अनुकृति यह कविता कभी नही हो सकती । जहाँ यह है वहाँ वह अकविता नही–अनुकृति ही होगी । समाज की निरर्थक हुई मान्यताओ, कौटुम्बिक प्रवचनाओ तथा साहित्यिक एवं राजनयिक खोखलेपन से सम्बद्ध व्यवस्था के प्रति ऐसी कविता वस्तुतः (अनुकृति न होने पर) क्षुब्ध मन की वास्तविक अभिव्यंजना ही होगी ।

क्षुब्ध मन की यह अवस्था विसंगति बोध के प्रति उस हद तक नैराश्य की ओर नही जाती जहा आत्महत्या के रूप मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को चरमोपलब्धि स्वीकार किया जाता है । वास्तविकताओ और तार्किक ज्ञान के बीच अलगाव की स्थिति से घबराकर मानसिक आत्महत्या तक बढ जाने से कोई नतीजा नही निकलता । बीटनिको के औघड धंधों और क्षुधित पीढ़ी की गलीज क्षुधा आत्महत्या की जीवित चेष्टा है–संभोग, वीर्यपात, पसीना और पेशाब के भीतर घुलती प्रयत्नज कविता बेहूदगियो की रौमान्टिक अदा से अधिक कुछ नही । कामू ने आत्महत्या के समाधान को तमाम विसंगतियो के होते हुए भी निष्प्रयोजनीय माना है । बीमारी ला-इलाज होने पर उसे दवा की आवश्यकता नही होती । मात्र ऐसा बोध ही जरूरी है कि हमे जीना है और अच्छे ढंग से जीना है । यहां तक कि साहित्य और कला के बूर्जुआ ढकोसलों को समझते हुए भी आखिर यह खयाल क्यो आता है कि तमाम बकवासो को हम समय के सहारे छोड़ दें, सिर्फ चेतना के साथ अभिशप्त होकर भी स्थितिप्रज्ञ बने रहे । कामू के निष्कर्ष मे एक आक्रोशी निर्णय है, और ऐसा रहस्य गुम्फित है, जो विस्फोट की प्रतीक्षा कर रहा है । इसलिए विसंगतियों मे जीवन के प्रति संसक्ति भाव को स्वीकार लेना क्यो बुरा है ? दोनो स्थितिया एक दूसरे से जुडी हुई हैं । एब्सर्डिटी-यंत्रणा, प्रवंचना, मृत्यु, अभिशप्ति अतर्क्य स्थितिया, अर्थहीनताएँ‥‥ · सब जीवन की चेतना को उद्बुद्ध करते हैं और सभी वरेण्य हैं । वरेण्य विद्रोह भाव से, क्योंकि यही भाव स्वतंत्र अस्तित्व भाव की ओर से व्यक्त अस्वीकृति का प्रमाण है । यह 'नेमिसिस' भाव अवश्य है, पलायन नही । हम जीते किसलिये हैं ? अगर टूटना ही एक मात्र नियति है तो यह बाहरी ढोंग किसलिए ? जीने का बोध

संगति है, आस्था है और अस्तित्ववादी दर्शन के बीच की विश्वस्य एवं विक्षुब्ध स्थितिप्रज्ञता है। यह वही स्थिति है जिसे प्रबुद्ध व्यक्ति अपने युक्तियुक्त तर्क को स्वयं पाकर उपलब्ध करता है :

> घूंट घूंट
> 'साइनाइड' पीता हूँ
> एक घिसे सोल के
> फटे जूते का
> टूटा हुआ फीता हूँ
> (मन को समझाता हूँ क्रान्ति का पलीता हूँ)

[प्रभाकर माचवे : दो 'मत'=एक हा]

प्रश्न यह है कि पूरी तरह आस्तित्व में आने के पूर्व ही अकविता के स्पष्टीकरण की आवश्यकता क्यों हुई? इसके दो कारण हैं एक तो यह कि अकविता के नाम से अनेक भद्दी और बीटनिक ढंग की रचनाओं का प्रकाशन और दूसरा यह कि अकविता के प्रति अधकचरे और लघु पत्रिकाओं द्वारा 'अ' का निषेध के अर्थ में प्रयोग। जबकि अकविता पूर्णतः नकारात्मक नहीं है, न ही 'अ+कविता' है। 'अकविता' के छः अंकों में प्रकाशित सभी कविताएँ भी अकविता के स्तर की नहीं कही जा सकती। इसलिए स्पष्टीकरण की दृष्टि से धुंध में आवृत्त वस्तुस्थितियों के सम्बन्ध में चर्चा करना आज बहुत जरूरी लगता है।

यह सच है कि हम एक तरह से 'नहीत्व'–'नास्तिभाव' में जीते हैं। क्योंकि मनुष्य चेतन है और स्वयं को विश्लेषित करते समय 'वह' नहीं रहता जो वह विश्लेषण के पूर्व होता है। निरन्तर अपने से छूटते जाना–नहीं के सिलसिले में आगामी 'नहीं' के लिए बढ़ना उसकी नियति है। अकविता तमाम 'नहीत्व' के बाद आगामी विलयन की भूमिका है। उसका प्रयत्न 'कविता जो हो सकती है' उसके लिए है। इसलिए अकविता पूर्ण अस्तित्व के उत्तरदायित्व की कविता है। इसका सत्य शून्यता में नहीं, बल्कि अस्तित्व को पारस्परिक सम्बन्धों में परोक्षित करना है। उसका एकान्तिक बोध सामूहिक नियति में बद्ध है और उसी में वह वरण के लिए स्वतन्त्र है। अकविता उस स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति है जिसमें उसके पाठक की भी 'सब्जेक्टीविटी' निहित है। 'नीत्शे के ऊंट' (मिथ्या मूल्यों को ढोनेवाला व्यक्ति) को यह सीधी सादी बात समझ में आना मुश्किल है। क्योंकि जिस ईश्वर के मर जाने की घोषणा नीत्शे कर चुका है, उस ईश्वर को सन्तों ने

गयी और उसका अवशिष्ट व्यक्ति में जीवित पशुत्व एवं समाज की अंधी चेष्टाओं में समा गया।

अलबर्ट श्वाइत्जर ने जिसे 'आध्यात्मिक पराधीनता' कहा है वह हमारी पिछली पीढ़ी को विरासत में मिली थी। दक्षिण भारत के समूचे संस्कारों में वह आज भी है। मगर 'आंतरिक स्वतन्त्रता' की अभिव्यक्ति निश्चय ही हमारी पराधीनता को कचोटती है। अकविता के रूप में हम इस प्रकार तीव्र संघर्ष से गुजरते हैं। श्वाइत्जर ने जिसे 'वैराग' कहा है वह वैज्ञानिक व्यवस्था और बहुविध ज्ञान के बीच व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाता है। वह बाह्य सम्बन्धों से समझौता करके भी भीतर से तटस्थ हो जाता है। बाहरी हीनताओं से उत्पन्न नैराश्य के बावजूद भी व्यक्ति को जीवित रहना है। अतएव केवल कुढ़न और आत्मघाती दर्शन में विश्वास रखना फिर से उसी नैराश्य की ओर लौटना है। जीने के लिए समस्त बाहरी दम्भों का, जो व्यवस्था को अंधे गर्त की ओर ढकेलते हैं, मजाक उड़ा कर जीना ही बेहतर लगता है। अवसादोन्मत्त होना कमजोर प्रतिक्रिया है। अवरोधों के प्रति कुपित होना और विसरी मनःस्थितियों को लेकर ओसबोर्न के नाटक 'लुक बैक इन ऐंगर' (1956) के प्रमुख पात्र जिमी पोर्टर अथवा एमिस के उपन्यास 'लकी जिम' के नायक की भांति अन्याय के प्रति क्षीण उदासीनता भी एक प्रकार का पलायन है। पलायन के इस आत्मकेन्द्रित स्वरूप की परिणति मात्र व्यक्ति तक ही सीमित होती है। कविता के स्तर पर यह अनुभूति की प्रथम प्रतिक्रिया है। इसमें व्यक्ति अनुभव के आघात से विमुख हो जाता है। मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षण की अनुभूति की है। "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक गतिमानता।" मुझे लगता है, कला का दूसरा और तीसरा क्षण दोनों अन्योन्याश्रित हैं। तीसरा भेद बहुत सूक्ष्म है और वह दूसरे से केवल शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया में ही अलग होता है। दूसरा क्षण अनुभव के मूल में व्यक्ति की सम्पृक्ति को पृथक करता है। अनुभव की वैयक्तिक पीढ़ी से इस क्षेत्र में वह अपने से अलग खड़ा होता है। निर्वैयक्तिकता का यह क्षण ही अकविता की वर्तमान सृजन प्रक्रिया का प्रमुख क्षेत्र है। इस क्षेत्र के बहुत निकट संवेदना का क्षेत्र है और उसके अधिक करीब होने से निर्वैयक्तिकता का संवेदन ग्रस्त हो जाना बहुत सम्भव है। मुक्तिबोध ने दोनों क्षणों के बीच 'कल्पना के एक रोल' की अवस्था

नुभव की है। क्योंकि कल्पना यहां व्यक्ति को पीड़ाओं से मुक्त करती है। स प्रकार व्यक्ति-बद्ध पीड़ाओं से मुक्ति प्राप्त करने की अनुभूति कल्पना के ाध्यम से व्यक्ति को उच्चतर स्थिति में ले जाना है। यह प्रक्रिया अकविता : लिए निराधार हो गयी है। उससे सम्बद्ध तीसरा क्षण अकविता के लिए ौर भी अनावश्यक हो गया है। कविता में अब 'भाव सम्पादन' करना र्थ का प्रयास भासित होता है। तीसरे क्षण की 'शब्द साधना', काटछाट, ार्य-परम्परा का आग्रह एवं एक प्रकार के 'फिनिश' का लक्ष्य सभी दूसरे ाण के निर्वैयक्तिक होने की प्रक्रिया साहित्य को जीर्ण एवं औपचारिक पवस्था की ओर लाते हैं। तथाकथित नयी कविता में इस आग्रह-रक्षा की रिणति यह हुई कि वह कला के पहले और तीसरे क्षण के बीच झूलती ही। इस सन्दर्भ में कला का दूसरा क्षण ही अंतिम एवं महत्वपूर्ण क्षण गता है। प्रथमानुभूति के धक्के से मुक्त होकर व्यक्ति इसी क्षण में निर्वैयक्तिक ोता है और तदाकारिता से मुक्त 'मन के तत्व के साथ तटस्थता का रस' से उपयुक्त लगता है।

अकविता स्वाभाविक कविता की दिशा है। इसे पीढ़ियों के संघर्ष से ोड़ना भूल होगी, क्योंकि यह किसी दायित्व के प्रतिबद्ध स्थिति से मुक्त है-निस्संग है। नई कविता की संवेदनशीलता और सौंदर्य दृष्टि के चमत्कारिक बिम्ब-संपुजन से इसकी सत्ता विलग है। इसका वस्तु जगत कवि के एकदम निकट है और कार्डियोग्राम के धौवाके में टूटती हुई लकीरों की तरह खंडित है। अनिबद्ध कला की भांति अकविता राजनीति के भ्रष्ट प्रतिमानों से मुक्त है। यह किसी पूर्वापर दार्शनिक मान्यताओं के प्रति आस्थावान भी नहीं है। इसका दर्शन यथार्थ की आडम्बर विहीन अभिव्यन्जना से जुड़ा हुआ हो सकता है। अभी कविता की शक्ति चुकी नहीं। इसलिए इसके सहज विकास में अनेक सम्भावनाएँ निहित हैं। कथ्य के अनेक आयाम इसे मिल जायेंगे। भाषा, फार्म और चयन की स्वाभाविक संगति अकविता के लिए आजतक की 'कविता' और उसमें सम्बन्धित प्रतिध्वनियों से ऊपर नये क्षेत्र की तलाश है। अगर ऐसी कविता गद्य के करीब आकर भी कुछ व्यन्जित करती है तो वह उसकी तात्कालीन उपलब्धि ही है जो भविष्य में अनुपलब्धि भी हो सकती है। कविता का श्रेष्ठ सदैव इनकर आता है। अकविता से इसमें अलग कोई अपवाद होने नहीं जा रहा है। सिर्फ इतना स्पष्ट है कि साधारण और असाधारण में अकविता कोई भेद नहीं मानती। जिसे पिछली कविता ने असाधारण अनुभूति कहा– वह आज की मन स्थिति के लिए साधारण हो गयी और दोनों तरह की स्थितियों में भेद–प्रभेद के प्रश्न पर आज का व्यक्ति अपना सिर नहीं खपाता। उसे वैचारिक मान्यताओं का दास बनने से भी कुछ उपलब्ध नहीं होता। पहले से ही उसकी पीठों पर इस तरह की अनेक

चीजों का बोध है जो यहाँ आज में हर बार कसौटी पर व्यर्थ सिद्ध हो रहा है। छोटे-छोटे दुःख और असीमित व्याप्त के बीच क्षणों को सहज कर लेने का एक ही उपाय है कि इन क्षणों को मानदंडों से मुक्त करें अथवा व्याख्या-सम्भव सत्ता और शास्त्र से अलग कर लें। अभिव्यक्ति के लिए जो सुन्दर हो–अर्थवत्ता और अर्थेतर दोनों की स्थिति में यही अकविता के क्षेत्र की वस्तु है।

शब्दों के प्रयोग की पूरी सहज-संयोगिक अवस्थाएँ यदि अर्थेतर स्थितियों में व्यक्त होकर स्वप्न के अतियथार्थवाद की झलक देने लगें तो वे अकविता के क्षेत्र से बाहर नहीं होंगी। तर्क सम्मत बोध और संवेद्य मनस के परे भी कुछ अवस्थाएँ वास्तविक सत्य के रूप में होती हैं, जिन्हें विशेष *अन्तश्चेतना ही अनुभव करती है। इन अवस्थाओं के प्रति संयोजित* तर्क और बोध व्यर्थ होते हैं। क्योंकि तब हमारे समाधान का रास्ता उन्हीं चिन्तन पद्धतियों से होकर जाता है, जिन्हें हम वास्तविक प्रतीतियों में छोड़ चुके होते हैं। कविता में ऐसे बिम्ब स्थल या तो बाह्य सत्य की आँखों में उलजलूल होंगे या एकदम सपाट– यकायक गद्यवत और उनका प्रभाव भी क्षीण होगा। अर्थ-सम्मत् बोध उन्हें पढ़ते ही बाँध लेने में असमर्थ होता है। बहुतों के लिए ऐसे स्थलों को काव्य की कोटि में स्वीकार करना मुश्किल होता है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय हिन्दी कविता द्वैत मन की कविता है। उसके *असंतोष की भूमि है सामाजिक विघटन और प्रतिरोध की व्यवस्था का* राजनयिक खोखलापन। असल में यह कविता अभी तक वेतन भोगी बुद्धिजीवी की कविता है जो या तो सरकारी-अर्द्धसरकारी दफ्तरों में काम करता है या व्यावसायिक पत्रिकाओं के बंधे-बंधाए वेतन पर पलता है। उसकी स्वानुभूति का क्षेत्र नौकरियों में उत्पन्न कुंठाएं, नागरिक जीवन की विडम्बनाएं, अनुपयोगी शिक्षा संस्कार, अर्थाभाव, अतृप्ति एवं बहुत-सी सामाजिक मान्यताओं से मुक्त होने की छटपटाहट तथा त्वरित उपलब्धियों की महत्वाकांक्षाएँ हैं। इन स्थितियों से न 'अज्ञेय' मुक्त हैं, न आज का अकविता लेखक।

इसी वेतन भोगी बुद्धि जीवी की आधुनिकता अधकचरी और प्रवृत्ति-मार्गी है। 1960 के बाद इसमें प्रतिरोध के माध्यम से जो उखड़ापन आया वह मात्र सहानुभूत ही नहीं, बल्कि कुछ अंशों में अरोपित भी है। उसके द्वैत *मन की स्थिति जीवनयापन और साहित्य-सृजन में अलग-अलग है।* वह एक मन से समस्त रूढ़ियों के साथ मुंडन और विवाह की रस्में निभाता है तो दूसरे मन से समूची मान्यताओं के प्रति घोर अनास्था दिखाता है। मन की *इन विरोधी पर्तों के अनेक उदाहरण आज की कविता में लक्ष्य किये जा सकते* हैं। इसलिए तथाकथित नयी कविता जहां 'अकविता' की स्थिति से विलग

ी है उस बिन्दु को पिन पाइण्ट नहीं किया जा सकता । उसे उन विधागत ी में ही चिन्हित किया जा सकता है जिनमें वेतन भोगी घण्टा की मूल्य ोदा अनुभूतियां विगलित मन स्थितियों से ऊपर उठकर विशुध्द हुई होती वही विक्षोभ सन्तुलन से क्षत हुए विना अव्याहत काव्याभिव्यक्ति के सहज तल में विपुल आयामी सिद्ध होता है । उसका निस्संग व्यवहार मृजन स्तर एक ओर जहां जटिल होता है, वहीं अपेक्षा से अधिक सरल और सीधा ता है । शब्दों की सत्ता जटिल स्थिति में अधिक-से-अधिक दिशाओं की र विकेन्द्रित होती है । कविता व्यक्ति के अतलातल से शुरू होकर बाह्य पकड़ती है । उसका केन्द्र बिन्दु है अस्तित्व की प्रतीति इसलिए प्रक्रिया स्त्रम्त मर्यादा बुद्धि से सम्बन्धित न होकर आन्तरिक बिखराव के स्तर से रम्भ होता है । अभिव्यक्ति यहां काव्य के रूढ़ प्रतिमानों से प्रतिबद्ध नहीं ती । कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण कविता स्पष्ट कुछ नहीं कहती, ल्कि शब्दों और पदों की बनावट एक बड़े या अनेक बिम्बों की एक साथ ष्टि करते हैं । जैसे अनेक रंग, बेतरतीब सामग्री, पत्ते, चिन्दियां, कीलें, तारें कुल मिलाकर 'कोलाज' में भरते हैं । पाठक सिर्फ शब्द-सन्दर्भों से सी कविताओं में अपने संस्कारों और अनुभूतियों के अनुकूल शब्दों की परिमित शक्ति का मापन करता है ।

नयी कविता जहां समाप्त होती है वहीं से अकविता का आरम्भ होता — यह दावा अपने आप में एक भ्रांति है । नयी कविता के अनेक समर्थ दि-लेखकों ने इस बात को बल देकर कहा भी है कि सन् साठ के पश्चात् न्दी कविता में नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ ।

सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रवृत्ति इस सन्दर्भ में मात्र अकविता है जिस र पिछले तीन-चार वर्षों में बराबर चर्चा हो रही है । इस तरह के विवाद नयी कविता से कविता की चर्चा के विच्छिन्न होने का उल्लेख स्वयं नयी विता के कवियों को अखरने लगा । अपने से अलग होती हुई प्रवृत्ति की र्चा ने उनमें जिस विच्छेद का दर्द पैदा किया उसका परिणाम यह हुआ कि एक प्रश्न पेश किया गया, 'क्या अकविता की प्रवृत्ति नयी कविता में पहले ी थी ?' क्योंकि अकविता की तरह नयी कविता ने अपनी पूर्ववर्ती कविता से विच्छेद को नये सौन्दर्यबोध और भाषा के नये संस्कार द्वारा व्यक्त किया है । न्द से गद्य की ओर बढ़कर एवं अनेक नकारात्मक साक्षात्कारों को स्वीकार करके उसने अपने विद्रोही स्वभाव को खुला छोड़ दिया । मगर यह सन् साठ के बाद ही सबसे अधिक तीव्र रूप में लक्ष्य किया गया । इस तरह का दावा करने के पीछे एक गहरी कुंठा और 'पराजय का दर्द' है । इसका अर्थ यह हुआ कि नयी कविता की स्थिति इससे पूर्व अस्पष्ट और धुंधली थी । उसके सम्बन्ध में लिखे गये कई लेख व्यर्थ थे, क्योंकि तब तक अर्द्धविकसित नयी

चीजो का बोझ है जो अपने आप में हर बार कसौटी पर व्यर्थ सिद्ध हो रहा है। छोटे-छोटे दु:ख और असीमित बाह्य के बीच अपने को सहज कर लेने का एक ही उपाय है कि हम अपने को मानदंडों से मुक्त करें अथवा व्याख्या-सम्मत कला और काव्य से अलग कर लें। अभिव्यक्ति के लिए जो मुक्त हो–अर्थवत्ता और अर्थेतर कैसी भी स्थिति में वही अकविता के क्षेत्र की वस्तु है।

शब्दों के प्रयोग की कुछ सहज-संयोगिक अवस्थाएँ यदि अर्थेतर स्थितियों में व्यक्त होकर ग्रेग्त के अतियथार्थवाद की झलक देने लगे तो वे अकविता के क्षेत्र से बाहर नहीं होंगी। तर्क सम्मत बोध और संवेद्य मनस के परे भी कुछ अवस्थाएँ वास्तविक सत्य के रूप में होती है, जिन्हें विशेष अन्तश्चेतना ही अनुभव करती है। इन अवस्थाओं के प्रति संयोजित तर्क और बोध व्यर्थ होते हैं। क्योंकि तब हमारे समाधान का रास्ता उन्हीं चिन्तन पद्धतियों से होकर जाता है, जिन्हें हम वास्तविक प्रतीतियों में छोड़ चुके होते हैं। कविता में ऐसे बिम्ब स्थल या तो बाह्य सत्य को आँखों में उलजलूल होंगे या एकदम सपाट– यकायक गद्यवत और उनका प्रभाव भी क्षीण होगा। अर्थ-सम्मत् बोध उन्हें पढ़ते ही बाँध लेने में असमर्थ होता है। बहुतों के लिए ऐसे स्थलों को काव्य की कोटि में स्वीकार करना मुश्किल होता है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय हिन्दी कविता द्वैत मन की कविता है। उसके असंतोष की भूमि है सामाजिक विघटन और प्रतिरोध की व्यवस्था का राजनयिक खोखलापन। असल में यह कविता अभी तक वेतन भोगी बुद्धिजीवी की कविता है जो या तो सरकारी-अर्द्धसरकारी दफ्तरों में काम करता है या व्यावसायिक पत्रिकाओं के बंधे-बंधाए वेतन पर पलता है। उसकी स्वानुभूति का क्षेत्र नौकरियों से उत्पन्न कुंठाएं, नागरिक जीवन की विडम्बनाएं, अनुपयोगी शिक्षा संस्कार, अर्थाभाव, अतृप्ति एवं बहुत-सी सामाजिक मान्यताओं से मुक्त होने की छटपटाहट तथा त्वरित उपलब्धियों की महत्वाकांक्षाएँ हैं। इन स्थितियों से न 'अज्ञेय' मुक्त हैं, न आज का अकविता लेखक।

इसी वेतन भोगी बुद्धि जीवी की आधुनिकता अधकचरी और प्रवृति-मार्गी है। 1960 के बाद इसमें प्रतिरोध के माध्यम से जो उखड़ापन आया सहानुभूत ही नहीं, बल्कि कुछ अंशों में आरोपित भी है। उसके द्वैत ... [illegible] और साहित्य-सृजन में अलग-अलग है। वह एक ... [illegible] मुंडन और विवाह की रस्में निभाता है तो ... [illegible] के प्रति घोर अनास्था दिखाता है। मन की ... [illegible] उदाहरण आज की कविता में लक्ष्य किये जा सकते ... [illegible] नयी कविता जहाँ 'अकविता' की स्थिति से विलग

होती है उस बिन्दु को दिन पाइण्ट नहीं किया जा सकता। उसे उन विधागत रूपों में ही चिह्नित किया जा सकता है जिनमें चेतन भोगी स्रष्टा की मूल्य सापेक्ष अनुभूतियां विगलित मन स्थितियों से ऊपर उठकर विक्षुब्ध हुई होती हैं। वही निक्षोभ सन्तुलन से क्षत हुए बिना अव्याहत काव्याभिव्यक्ति के सहज प्रयत्न में विपुल आयामी सिद्ध होता है। उसका निस्संग व्यवहार सृजन स्तर पर एक ओर जहां जटिल होता है, वहीं अपेक्षा से अधिक सरल और सीधा होता है। शब्दों की सत्ता जटिल स्थिति में अधिक-से-अधिक दिशाओं की ओर विकेन्द्रित होती है। कविता व्यक्ति के अतलातल में शुरू होकर बाह्य को पकड़ती है। उसका केन्द्र बिन्दु है अस्तित्व की प्रतीति इसलिए प्रक्रिया का स्वरूप मर्यादा बुद्धि से सम्बन्धित न होकर आन्तरिक बिखराव के स्तर से आरम्भ होता है। अभिव्यक्ति यहां काव्य के रूढ़ प्रतिमानों से प्रतिबद्ध नहीं होती। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण कविता स्पष्ट कुछ नहीं कहती, बल्कि शब्दों और पदों की बनावट एक बड़े या अनेक बिम्बों की एक साथ सृष्टि करते हैं। जैसे अनेक रंग, बेतरतीब सामग्री, गत्ते, चिन्दियां, कीलें, रेखाएं कुल मिलाकर 'कोलाज' में करते हैं। पाठक सिर्फ शब्द-सन्दर्भों से ऐसी कविताओं में अपने संस्कारों और अनुभूतियों के अनुकूल शब्दों की अपरिमित शक्ति का भावन करता है।

नयी कविता जहां समाप्त होती है वहीं से अकविता का आरम्भ होता है – यह दावा अपने आप में एक भ्रांति है। नयी कविता के अनेक समर्थ कवि-लेखकों ने इस बात को बल देकर कहा भी है कि सन् साठ के पश्चात् हिन्दी कविता में नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ।

सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रवृत्ति इस सन्दर्भ में मात्र अकविता है जिस पर पिछले तीन-चार वर्षों से बराबर चर्चा हो रही है। इस तरह के विवाद में नयी कविता में कविता की चर्चा के विच्छिन्न होने का उल्लेख स्वयं नयी कविता के कवियों को अखरने लगा। अपने से अलग होती हुई प्रवृत्ति की चर्चा ने उनमें जिस विच्छेद का दर्द पैदा किया उसका परिणाम यह हुआ कि एक प्रश्न पेश किया गया, 'क्या अकविता की प्रवृत्ति नयी कविता में पहले से थी?' क्योंकि अकविता की तरह नयी कविता ने अपनी पूर्ववर्ती कविता से विच्छेद को नये सौंदर्यबोध और भाषा के नये संस्कार द्वारा व्यक्त किया है। पद्य से गद्य की ओर बढ़कर एवं अनेक नकारात्मक साक्षात्कारों को स्वीकार करके उसने अपने विद्रोही स्वभाव को खुला क्षेत्र दिया। मगर यह सब साठ के बाद ही सबसे अधिक तीव्र रूप में लक्ष्य किया गया। इस तरह का दावा करने के पीछे एक गहरी कुंठा और 'पराजय का दर्द' है। इसका अर्थ यह हुआ कि नयी कविता की स्थिति इससे पूर्व अस्पष्ट और धुंधली थी। उसके सम्बन्ध में लिखे गये कई लेख व्यर्थ थे, क्योंकि तब तक अर्द्धविकसित नयी

चीजों का बोझ है जो अपने आप मे हर बार कसौटी पर व्यर्थ सिद्ध हो रहा है। छोटे-छोटे दु:ख और असीमित बाह्य के बीच अपने को सहज कर लेने का एक ही उपाय है कि हम अपने को मानदंडों मे मुक्त करें अथवा व्याख्या-सम्मत कला और काव्य से अलग कर लें। अभिव्यक्ति के लिए जो सुखद हो-अर्थवत्ता और अर्थेतर कैसी भी स्थिति मे वही अकविता के क्षेत्र की वस्तु है।

शब्दों के प्रयोग की कुछ सहज-संयोगिक अवस्थाएँ यदि अर्थेतर स्थितियों मे व्यक्त होकर ब्रेग्तं के अतियथार्थवाद की झलक देने लगें तो वे अकविता के क्षेत्र से बाहर नही होंगी। तर्क सम्मत बोध और संवेद्य मनस के परे भी कुछ अवस्थाएँ वास्तविक सत्य के रूप मे होती हैं, जिन्हें विशेष अन्तश्चेतना ही अनुभव करती है। इन अवस्थाओं के प्रति संयोजित तर्क और बोध व्यर्थ होते हैं। क्योंकि तब हमारे समाधान का रास्ता उन्ही चिन्तन पद्धतियों से होकर जाता है, जिन्हें हम वास्तविक प्रतीतियों मे छोड़ चुके होते हैं। कविता मे ऐसे बिम्ब स्थल या तो बाह्य सत्य की आँखों में उलजलूल होंगे या एकदम सपाट– यकायक गद्यवत और उनका प्रभाव भी क्षीण होगा। अर्थ-सम्मत् बोध उन्हें पढ़ते ही बांध लेने मे असमर्थ होता है। बहुतों के लिए ऐसे स्थलों को काव्य की कोटि मे स्वीकार करना मुश्किल होता है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय हिन्दी कविता द्वैत मन की कविता है। उसके असंतोष की भूमि है सामाजिक विघटन और प्रतिरोध की व्यवस्था का राजनयिक खोखलापन। असल मे यह कविता अभी तक वेतन भोगी बुद्धिजीवी की कविता है जो या तो सरकारी-अर्द्धसरकारी दफ्तरों मे काम करता है या व्यावसायिक पत्रिकाओं के बंधे-बंधाए वेतन पर पलता है। उसकी स्वानुभूति का क्षेत्र नौकरियों मे उत्पन्न कुंठाएं, नागरिक जीवन की विडम्बनाएं, अनुपयोगी शिक्षा संस्कार, अर्थाभाव, अतृप्ति एवं बहुत-सी सामाजिक मान्यताओं से मुक्त होने की छटपटाहट तथा त्वरित उपलब्धियों की महत्वाकांक्षाएँ हैं। इन स्थितियों से न 'अज्ञेय' मुक्त हैं, न आज का अकविता लेखक।

इसी वेतन भोगी बुद्धि जीवी की आधुनिकता अधकचरी और प्रवृत्ति-मार्गी है। 1960 के बाद इसमें प्रतिरोध के माध्यम से जो उग्रड़ापन आया सहानुभूत ही नही, बल्कि कुछ अंशों मे आरोपित भी है। उसके द्वैत ... यापन और साहित्य-सृजन में अलग-अलग है। वह एक साथ मुंडन और विवाह की रस्में निभाता है तो ...ओं के प्रति घोर अनास्था दिखाता है। मन की उदाहरण आज की कविता मे लक्ष्य किये जा सकते ... नयी कविता जहां 'अकविता' की स्थिति से विलग

होती है उस बिन्दु को पिन पाइण्ट नहीं किया जा सकता। उसे उन विधागत रूपों में ही चिन्हित किया जा सकता है जिनमें चेतन भोगी स्रष्टा की मूल्य सापेक्ष अनुभूतियां विगलित मन स्थितियों से ऊपर उठकर विशुद्ध हुई होती हैं। वही विक्षोभ सन्तुलन से शान्त हुए बिना अव्याहत काव्याभिव्यक्ति के सहज प्रवाह में विपुल आयामी सिद्ध होता है। उसका निस्संग व्यवहार सृजन स्तर पर एक ओर जहां जटिल होता है, वहीं अपेक्षा से अधिक सरल और सीधा होता है। शब्दों की सत्ता जटिल स्थिति में अधिक-से-अधिक दिशाओं की ओर विकेन्द्रित होती है। कविता व्यक्ति के अंतराल से शुरू होकर बाह्य को पकड़ती है। उसका केन्द्र बिन्दु है अस्तित्व की प्रतीति इसलिए प्रक्रिया का स्वरूप मर्यादा बुद्धि से सम्बन्धित न होकर आन्तरिक बिखराव के स्तर से आरम्भ होता है। अभिव्यक्ति यहां काव्य के रूढ़ प्रतिमानों से प्रतिबद्ध नहीं होती। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण कविता स्पष्ट कुछ नहीं कहती, यद्यपि शब्दों और पदों की बनावट एक बड़े या अनेक बिम्बों की एक साथ सृष्टि करते हैं। जैसे अनेक रंग, बेतरतीब सामग्री, गत्ते, चिन्दियां, कीलें, रेखाएं कुल मिलाकर 'कोलाज' में करते हैं। पाठक सिर्फ शब्द-सन्दर्भों से ऐसी कविताओं में अपने संस्कारों और अनुभूतियों के अनुकूल शब्दों की अपरिमित शक्ति का मापन करता है।

नयी कविता जहां समाप्त होती है वहीं से अकविता का आरम्भ होता है – यह दावा अपने आप में एक भ्रांति है। नयी कविता के अनेक समर्थ कवि-लेखकों ने इस बात को बल देकर कहा भी है कि सन् साठ के पश्चात् हिन्दी कविता में नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ।

सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रवृत्ति इस सन्दर्भ में मात्र अकविता है जिस पर पिछले तीन-चार वर्षों से बराबर चर्चा हो रही है। इस तरह के विवाद में नयी कविता से कविता की चर्चा के विच्छिन्न होने का उल्लेख स्वयं नयी कविता के कवियों को अखरने लगा। अपने से अलग होती हुई प्रवृत्ति की चर्चा ने उनमें जिस विच्छेद का दर्द पैदा किया उसका परिणाम यह हुआ कि एक प्रश्न पेश किया गया, 'क्या अकविता की प्रवृत्ति नयी कविता में पहले से थी?' क्योंकि अकविता की तरह नयी कविता ने अपनी पूर्ववर्ती कविता से विच्छेद को नये सौन्दर्यबोध और भाषा के नये संस्कार द्वारा व्यक्त किया है। पद्य में गद्य की ओर बढ़कर एवं अनेक नकारात्मक साक्षात्कारों को स्वीकार करके उसने अपने विद्रोही स्वभाव को खुला छोड़ दिया। मगर यह सब साठ के बाद ही सबसे अधिक तीव्र रूप में लक्ष्य किया गया। इस तरह का दावा करने के पीछे एक गहरी कुंठा और 'पराजय का दर्द' है। इसका अर्थ यह हुआ कि नयी कविता की स्थिति इसके पूर्व अस्पष्ट और धुंधली थी। उसके सम्बन्ध में लिखे गये कई लेख स्वयं थे, क्योंकि तब तक अर्द्धविकसित नयी

कविता को ही वे उपलब्धि मानते रहे और यह कि अकविता अब उन्हीं व्याख्याओं की दृष्टि में सहसा नयी कविता की ही वास्तविक परिणति हो गई अथवा अकविता के रूप में नयी कविता का सही दिशा में विकास उन्हें नजर आने लगा। इस तर्क के आगे उन्हें अकविता कोई नयी चीज नही लगती। नयी कविता को ही जब हर नयी बात का श्रेय लेना है तो ऐसे कमजोर तर्क का आश्रय स्वाभाविक लगता है। उसे गम्भीर नही लेना चाहिए।

मगर साठ के बाद प्रकाशित होने वाले कविता-संग्रहों और फुटकर कविताओं से किसी स्पष्ट दिशा का संकेत नही मिलता। सूक्ष्म व्यंजना, सीधी साधी भाषा, अनास्था, विद्रोह और एब्सर्ड जैसी बहुत सी बातो के मध्य नयी कविता के ढंग की कविताएं तब भी देखने मे आती रही, इसलिए एक मिलीजुली प्रवृत्ति के बीच मोटे सन्दर्भ के भरोसे हम साठ के बाद के पार्थक्य को अनुभव करते हैं। इस मोटे सन्दर्भ को नयी कविता के व्यापक और लचीले परिवेश के अन्तर्गत स्वीकार करने की आसक्ति बिखरी चर्चाओं में देखी गयी। इस विच्छेद का दर्द 'अज्ञेय' को भी साठ के बाद बेहद कुरेदने लगा। शब्द की अर्थवान सत्ता की बात और परम्परा के प्रति सतत मोह के पीछे उनका लक्ष्य यही है कि जो कुछ नया है, वह उनसे ही सम्बन्धित है।

इस विषय को यों भी समय के खंडो में बांटना गलत लगता होगा। अकविता स्वभावी अनेक सन्दर्भ हमे पूर्ववर्ती कविताओ मे मिल जाते हैं और यह कि आज की अकविता या कविता के परम्परागत अर्थ मे आचार्यों और रूढ़धर्मी आलोचकों के समक्ष अस्वीकृत कविता मे भी हमें नयी कविता के छायावादी अंदाज और नव रहस्यवाद की भावभूमि भी मिलती जाती है। अतएव साहित्य की प्रवहमान अभिरुचियो को वाटरटाइट कम्पार्टमेन्ट मे नही बांधा जा सकता। उन्हें दशकों मे बाटना भी अब उचित नही लगता। एक दशक में कविता की कई प्रवृतियाँ एक साथ आवर्तित होती हैं—उन्हें केवल स्थूल प्रवृत्तियों की दृष्टि से समभा जा सकता है। कविता में आज तो व्यक्तियो की खोज करना होगा। भाषा, शिल्प और शैली पुराने आधार हैं। अब आधार सिर्फ यह होगा कि व्यक्ति भाषा का उपयोग करते हुए खुद को किस तरह खोलता है। आगामी कविता कैसी होगी इसकी भविष्यवाणी हमें नहीं करना है। इस पर अगर विचार करना ही है तो हमे कवि-पाठक (या श्रोता) के सह-सम्बन्धो के नये सन्दर्भ में सोचना होगा। कविता अब और भी अधिक पढ़ने और देखने की चीज होती जायेगी।

अकविता प्रतिष्ठाकामी काव्य नही है। यह कोई वाद, शैली या शिल्प का आन्दोलन नहीं है। यह तो स्वीकृत 'कविता' की औपचारिकता को

मकझोरने की स्वाभाविक दिशा है। एक तीव्र प्रतिक्रिया है कि कविता की भावी सम्भावनाएँ इसके निमित्त खुल सकें।

'अकविता' शब्द, जहां तक मुझे ज्ञात है, नयी कविता के पक्षधरों के बीच घोटनीय ढर्रे की उलजलूल कविताओं का उपहास करने की दृष्टि से पहले पहल प्रयुक्त किया गया। इस बात में फिर भी कोई महत्व नहीं कि इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किसने, कब और क्यों किया। आलोचना के स्तर पर नाम का उपयोग मात्र पार्थक्य सूचित करने के लिए है, और 'अकविता' शब्द अब पूर्ववर्ती कविता से निश्चय ही उस अलगाव की स्थिति को पुष्ट करता है। पार्थक्य के नाते अकविता समग्रता विहीन, विवश, अनगढ़ एवं सीमान्तक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। 'तीसरा सप्तक' (1959) तथाकथित नयी कविता की परिणति है। उसकी विवशता अब इस स्तर पर उद्घटित होती है कि उसे आगे का स्वयं से कटा हुआ लगता है। अकविता का प्रश्न जब उभरकर सामने आया तो इस पीढ़ी ने (जिसे अज्ञेय ने, शायद 'वाक्' में 'पराजित पीढ़ी के कवि' कहा है) उसे अपने से सम्बद्ध करने की चेष्टा की :

शायद कल किसी के कंधों पर
चढ़कर मेरा बौना अहम
विवश हाथ फैलाये —सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

कहा गया है कि "नयी कविता के एक दौर का समाप्त हो जाना नयी कविता का समाप्त हो जाना नहीं है।" (परमानन्द श्रीवास्तव : धर्मयुग)। काव्य दृष्टि से परिवर्तन सप्तकों के कवियों में अवश्य आया। शायद उनमें से हर सचेत कवि ने 'अभिव्यक्ति के खतरे' उठाने का साहस किया और अपनी सृजन प्रक्रिया को आसन्न स्थिति से टकराया।

अकविता इन तीनों सप्तकों के पैमाने से अलग है। यह कालधर्मी कविता है, जिसके लिए कई कारण उत्तरदायी हैं। इनका सीधा प्रभाव कविता को औपचारिकता से विलग करने की प्रतिक्रियाओं में घटित हुआ। अकविता ने अपने समय की प्रचलित उन काव्योपचारिकताओं को नष्ट किया जो 'नयी कविता' में रूढ़ हो गयी थी। ये औपचारिकताएं सौन्दर्यवादी रुमानें थी, अपने क्षुद्रत्व (छोटेपन का भाव) में आदमी की निर्वासित संवेदनाएं थी, अन्तर्विरोधों की फ्राइडियन जिज्ञासाएं थी, विज्ञान के प्रति चमत्कृत दृष्टि थी और सैंतालीस के बाद आजादी प्राप्त करने की महत्वाकांक्षाओं के बने विकास के समाधान की तरह छायावाद से मुक्त होने की कोशी बनावट थी। इन सबके साथ सूक्ष्म रागात्मिकताएं थी जिनके दूर छायावाद से हुए थे, बल्कि वे नयी कविता की सीधी-साधी भाषा में ज्यादा स्पष्ट आये थे।

अकविता के लिए तथाकथित नयी कविता की उपलब्धि अब निर्वीर्य और ठंडी हो चुकी है। वह मुक्तिबोध की सच्ची कविताओं की तटस्थ मनःस्थिति से गुजर रही है, मगर उनकी बहुतेरी संवेदनाओं से मुक्त है। मसलन कविता अब नगी है। उसे किसी का लिहाज नहीं रहा। किसका, किसलिए लिहाज हो ? लिहाज के कारण स्वयं अपनी जर्जरता को दम्भी औपचारिकताओं द्वारा उघाड चुके हैं। इसलिए जब साठ के बाद की सैकड़ों कविताओं को पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर देखते हैं तो उनका अधिकाश जो कहना है वह तीक्ष्ण मालूम होता है। उनमें अच्छी या बुरी कविता का प्रश्न नहीं उठता। अपनी बात के लिए उपयुक्त शब्द पा सकने के पश्चात् कई कविताओं में जो ईमानदारी है उसे यहा देखना होगा। बहुत कुछ पाठक के हक मे है कि वह नये मुहावरों को समझे। क्योंकि जिस बिन्दु पर आज का कवि खड़ा है वह स्पष्ट नही है। सामाजिक, आर्थिक और राजनयिक कारणों से जिन ग्रन्थियों को उसने अपने स्वभाव से जोड लिया है उनकी प्रतिक्रिया उसकी भाषा मे आयी है। उसका स्वर दूसरा है, भंगिमा दूसरी है, और कभी-कभी तो उसे अपने शब्द भी कम जान पड़ते है। मुझे अज्ञेय के 'अर्थ गर्भ' मौन के उपयोग की बात इस सन्दर्भ में अधिक समीचीन जान पडती है, चाहे 'अज्ञेय' ने इसे किसी और अभिप्रेत मे इसको स्पष्ट करना चाहा हो। लेकिन मैं समझता हूँ शब्दो मे निहित अर्थ का उपयोग जहां पर्याप्त नही होता वहां कविता की भाषा शब्दो की स्वीकृत अर्थवत्ता से अलग हो चलती है। अकविता के एक अंश में ऐसा हुआ है। यदि 'अज्ञेय' की बात लें कि 'कविता शब्दों के बीच नीरवता मे होती है' तो हम एक ऐसी अति तक पहुँचते है, जहां रहस्य के सूत्र खुलने की पूरी सम्भावनाएं हो सकती है। मगर कविता कोई जादू नहीं— न किसी नव रहस्यवाद की ओर लौटने की कोशिश है। वह एक उखडा-उखड़ा निस्संग प्रयास है। इसलिए कोई भी कविता पूर्ण नही होती, बल्कि यो कहा जा सकता है कि कई अकविताएं मिलकर स्वीकृत अर्थ मे एक कविता की सृष्टि करती हैं। (इस नाते हमारे समक्ष नयी कविता के मुक्तिबोध एक अपवाद है)। श्रीकान्त मे कुछ अकविता भाव है ('भटके मेघ' की परवर्ती कविता में)। कैलाश वाजपेयी मे आज का कवि कई कविताओं में एक ही कविता करता है। वह बार-बार खुद को छीलता है। उसका अनुताप रूढ़ मुहावरो की पकड़ मे नही आता, इसलिए वह निरालिस गद्य मे अपनी बात को नंगा करता है। उसका बस चले तो वह अपने आवेश को एक अनजानी भाषा मे सम्प्रेषित करने से भी नहीं चूके। इस प्रकार वह रूढ़धर्मा पाठ्य वृत्ति से बदला भी लेता है। जगदीश चतुर्वेदी अपने सीमित मुहावरों से यही करता है। मुद्राराक्षस ने इधर कुछ कविताएं (स्टिल लाइफ, न्यूड आदि) लिखकर यही किया। विष्णुचन्द्र शर्मा और चन्द्रकान्त देवताले मे भी वही

ग्लरी है। सौमित्र मोहन मे पर्याप्त असम्पृक्ति है। राजीव का आत्मनिर्वासन उसमे बाहर नही है। अन्ततः लिखना ही अनिवार्य स्थिति है। मगर इस बात को शायद ही कोई स्वीकारे कि 'मौन द्वारा भी संप्रेषण हो सकता है' (अज्ञेय)। तब वह मौन किस पर घटित होगा ? संप्रेषण की भूमि क्या होगी ? तब लेखक की 'दोहरी सम्पृक्ति' कैसे होगी ? वह दो मोर्चों पर कैसे लड़ेगा ?

अकविता साठ के बाद की उस व्यापक प्रवृत्ति का बोध कराती है जिसे चिन्हित करने के लिए, समय-समय पर अनेक नाम दिये जाते रहे हैं। नया कवि पूर्ववर्ती काव्य परम्परा से कई माने में कट गया है। उसकी सेक्स अनुभूति झिझक और भय से अलग हो गयी, बल्कि वह इतनी उघड़ गई, स्वीकृत मान्यताओं के नाते इतनी अपराधी हो गयी कि उसमें उसका स्निग्ध पक्ष सदा के लिए समाप्त हो गया। कामुक विह्वलता तीखे व्यंग्य और अतर्क विडम्बनाओं मे बदल गयी। अब काव्य की गहरी सत्ता आदिम अनघड़ता और विद्रूप की ओर जाने लगी। सह-सम्बन्धों की जटिलताओं को निर्मम मूल्यों में सम्पृक्त करता-सा भाव अकविता में आया है। वैज्ञानिक दृष्टि और कलावैविध्य ने अतिरिक्त व्यंजना को रास्ते दिये हैं। इस स्थिति ने बहुत से अनावश्यक तत्वों को काव्य-व्यवहार से काट फेंका है।

अनिश्चित वर्तमान में आज के व्यक्ति की चेतना का रंग काला हो गया है। कालापन बाहर की सभी वैषम्य स्थितियों का रंग है। विकृत सम्बन्धों के बीच आदमी के मन पर निरर्थकता का बोध आ गया है। उसका त्रास अब स्पष्ट नही, सामान्य हो गया है। इसलिए कोई किसी से छुपाता नही। गोपन भाव की समाप्ति अकविता की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

व्यवस्था के प्रति विश्वास का उठ जाना, किसी भी समय युद्ध की घटित होने की अपेक्षा मिथ्या तर्क पर खोखली व्यवस्था को ढोना और इन सबके परिणामों को खुली दृष्टि से देखने से खीज और क्षोभ ही अधिक होता है। व्यक्ति इनका उपचार कर पाने मे स्वयं को प्राय असमर्थ पाता है। गति इतनी तेज है कि एक का इम्प्रेशन मन को ज्योंही पकड़ना शुरू करता है, उस पर दूसरा इम्प्रेशन आ जाता है और फिर दूसरा और तीसरा यह सब एक व्यापक विसंगति का जाल बुनते हैं। इस सिलसिले में मुक्ति बोध की काव्य प्रक्रिया के सम्बन्ध में तीन अवस्थाओं की प्रतीति स्वयं सिद्ध होती है। अनुभव से पृथक होने का क्रम तो अनुभूतियों के सतत आनेवाले धक्कों मे ही निहित होता है, तब उसे पचाने का प्रश्न ही नही उठता। दरअसल, इस व्यवस्था में अकविता का व्यक्ति एक दम परास्त मानव नही है।

पेट के साथ जो अभाव का दर्द है, उसमे 'काम' कैसा ? वातावरण में अब भी अर्थजन्य विवशताएँ खत्म नही हुई हैं। विकास की बातें सिर्फ

ाध्यमो से व्यक्त होती है उन माध्यमों के स्वभाव और स्वीकृति बिम्बो से
ोते हुए उसका मार्ग खुलता है। मुक्तिबोध ने इस बात को महसूस किया
ा. "लोग स्वयं कृत विश्लेषण पर जितनी दृढ आस्था और निष्ठा रखते
वही मुझे बड़ी अविवेकपूर्ण मालूम होती है।" बहुत कुछ बाह्य होता है।
समे हम दीर्घकाल तक स्वीकृत मानकर नही चल सकते। स्थितियो मे
ुजरना और स्थितियो की परिकल्पना को अनुभूति का दर्जा देना दो अलग
ीजें हैं। इनमे स्थितियो मे गुजरते वक्त की प्रतिक्रियाएँ अधिक प्रामाणिक
ोती हैं और उनकी प्रामाणिकता व्यक्ति स्तर पर उतनी ही अधिक कालसा-
ास भी होती हैं। स्थितियो से गुजर जाने पर नई स्थितियो मे उनका महत्व
एक दस्तावेज से अधिक नही होता। आवश्यकता पड़ने पर उसका मात्र
सन्दर्भ ग्रहण किया जा सकता है, उससे अधिक उसकी उपादेयता नही रहती।

●●●

अतर्क्य विसंगतियों का संतुलित विक्षोभ

मेरा एक दोस्त है। चित्रकार है। वह अपनी कृतियो के शीर्षकों के सम्बन्ध मे बहुत अधिक सोचता है। चाहे शीर्षक लम्बी पंक्तियों में हों, लेकिन हो एकदम पकडने वाले—बोल्ड, अनगढ और बोलते हुए। उपयुक्त शीर्षक मिल जाने तक उसकी परेशानी खत्म नही होती। प्रकट है, वह अपने चित्रों को भाषा के निकट लाकर कुछ अधिक संप्रेषित करना चाहता है, लेकिन इतना अधिक भी नही कि दर्शकों के लिए कुछ शेष न रहे। अभिव्यक्ति के लिए अपने माध्यम का उपयोग करने के पश्चात् वह अपने अव्यक्त को अतिरिक्त व्यञ्जना द्वारा विस्तार देना चाहता है। शीर्षक की यह तलाश, वस्तुत. उसके पक्ष मे, कविता की तलाश है। यह तलाश आज का हर चित्रकार करता है। उसका संघर्ष तब शुरु होता है जब चित्र-संरचना की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है, क्योकि तब वह अपनी विधागत अपर्याप्तता को समझ लेता है, और इसीलिए अन्य विधा मे अपने अनकहे को सन्दर्भ देने का प्रयास करता है।

आधुनिक कविता की कठिनाइयाँ भी कुछ इसी तरह के अभिव्यक्ति सम्बन्धी संकट से बद्ध हैं। उसमे समुचित प्रक्रिया का संक्रमण तब आरम्भ होता है, जब शब्दो की प्रयोजनीय अर्थवत्ता से वह ऊब जाती है। प्रयुक्त शब्दों का सहारा उसे अपर्याप्त लगता है, और वह उसकी अनुवर्तिनी बनने मे इन्कार करती है। इस स्थिति मे अपने वास्तविक कथ्य को पूर्ण संप्रेषित करने के लिए अन्य विधाओ के सामर्थ्य की ओर उन्मुख होना उसके लिए स्वाभाविक है।

सातवें दशक के करीब आते-आते हिन्दी कविता भीतरी जटिलताओं को व्यक्त करने की प्रक्रिया मे तथाकथित नयी कविता मे बार-बार आवर्तित होती हुई प्रवृत्तियो से अलग जाने लगी। उसे एक भिन्न 'टेक्शचर' मे उपलब्ध करने का प्रयास कुछ निस्संग और तटस्थ मनः स्थिति के कवियो ने किया। क्योंकि सवाल अभिरुचियों के बीच फासले का तो था ही, कविता के मृतप्राय: संस्कारों में मुक्त होने का भी था। पार्थक्य का यह स्पष्ट संकेत था। पार्थक्य उस कविता में जो छायावाद के लम्बे उत्तरार्ध की उपयुक्त परिणति सिद्ध हुई। इस - मे मुझे यह बराबर महसूस होता रहा कि छायावाद की

पूर्व नही, बल्कि छठे दशक के अंत मे आकर

हुई। कथ्य एवं रूपगत परिवर्तन, कई वर्षों तक

नये मूल्यों के निमित्त, प्रयोगवाद और बाद में नयी कविता के नाम से एकरस बने रहे। केवल इतना हुआ कि उस परिवर्तन ने, छायावाद को अतीत भावुकता का आभा-मंडल विछिन्न करके, सम्पन्न स्थिति की सूक्ष्म संवेदना को दूसरे स्तर पर ग्रहण किया। मन्द्र सप्तक से तार सप्तक में आते हुए केवल 'सुर' बदला। लेकिन मूल्य-संक्रमित स्थिति में मृत्यु के पश्चात् भी प्रेत-बाधाएँ आती हैं, और कुछ स्वर असंतुष्ट प्रेत के बराबर प्रतिध्वनित होते हैं। शायद कुछ काल तक आगे भी होते रहें। क्योंकि वह प्रेत उस अधपकी हुई पीढ़ी का है जिसके ड्राइंग रूम में एक जर्जर पियानो रखा है। प्रेत समय-असमय आकर उसके सप्तकों पर उंगलियाँ तोड़ने का लोभ संवरण नहीं करता। तथाकथित नयी कविता इस माने में बुर्जुआ मनोवृत्ति के बुद्धिजीवियों की कविता मर रह गयी है। वह ऐसी पीढ़ी की कविता है जिसका स्वर अति तार-सप्तक में जाकर फट गया है, और वह उस स्वर को ही साध्य माने बैठी है। यह भ्रांति उसे इसलिए होगयी कि उसकी नियति भौतिक उपलब्धियों में मोहग्रस्त होकर प्रतिष्ठाकामी बन गयी है। एक और स्तर उसके नीचे है—व्यावसायिक पत्रकारिता और अध्यापन का—जिसमें भी उसकी प्रखरता का स्खलन हुआ है। इस प्रकार की निर्वीय स्थिति में अतीत की उपलब्धियों पर जीने के साथ एक धुंधलका अपने आप आ जाता है। संवेदनाओं के वृत्त यहाँ आकर अपने मुहावरे स्थिर कर लेते हैं और कथ्य एवं भाषा का एक दायरा बन जाता है। लगता यों है कि नयी कविता एक ऐसी औरत है जिसे छायावादी अंग्रेजों से छीनकर सप्तकों के अधिकतर अनुजों ने भोगा, पर जब उसके अंग शिथिल होने लगे तो वह ऐसे भतीजों के हाथों में फंस गई कि उसकी दुर्गति पर स्वयं 'अज्ञेय' को बड़े दर्द के साथ 'नये कवि से' शिकायत करनी पड़ी।

लेकिन प्रश्न अब उस कविता का नहीं जिससे 'अज्ञेय' को शिकायत रही। प्रश्न उससे भिन्न स्थिति की कविता का है उस टूटन का है जो कविता से निकल कर अकविता की ओर बढ़ रही है। सम्भावनाओं के वैविध्य को देखते हुए सवाल इस बात का है कि परम्परा के सन्दर्भ को सातवें दशक की निस्संग और अतर्क्य कविता किस रूप में ले, क्योंकि अकविता का तेवर विक्षुब्ध, किन्तु सन्तुलित मनःस्थिति का तेवर है। विरोध अकविता के समक्ष मूल्यहीन है। लेकिन नैरन्तर्य से कट कर क्या किसी सिक्के के एक पक्ष की भाँति यकायक प्रकट होना सम्भव है? प्रकटीकरण भी ऐसा कि सिक्के का दूसरा पक्ष पूरी तरह ओझल हो जाये। तब भी परम्परा पीठ से सटे हुए इतिहास का बोझ होगी। उसे अस्तित्व से पृथक तो किया नहीं जा सकता। फिर भी क्या अतीत-रहित होने का अहसास नंगेपन का बोध नहीं लगता? अमरिकी बीट ने इस अनुभूति में स्वयं को अकेला, अरक्षित,

और विसंगतियों से उद्भूत जड़ता ने उसे कुंठित कर दिया। उसने [illegible] बुद्धिजीवियो को सत्तागामी नेतृत्व मे खण्डित होते देख लिया था। सामाजिक तिरस्कार और व्यक्तिक्रम के मध्य उसे अपने अस्तित्व के लिए वैचित्र्य ही साध्य एवं साधन लगा। उस वैचित्र्य का भी एक पैटर्निस्टिक रोमैन्टिकता मे जाकर अन्त हुआ। गिलबर्ड सोरेन्टीनो से उसके बीट मित्रो के बारे में बी० बी० सी० के एक भेंटकर्त्ता ने जब प्रश्न किया तो उसका उत्तर था : 'सभी बीटस् रोमैन्टिक हैं। रोमैन्टिक उदण्ड अर्थ मे, क्योंकि वे अहम् मे पगला गये हैं। उनका ख्याल है कि वे अपने सम्बन्ध में जो कुछ भी व्यक्त करेंगे लोग उसमे रुचि लेंगे।' इस उद्धरण को शायद यहाँ उद्धृत नहीं किया जाता, यदि 'प्रारम्भ' के प्रकाशन पर डॉ० माचवे ने 'अज्ञेय' की रुचि और आज की रुचि में फर्क आजाने की वास्तविकता का समर्थन न किया होता, या नेमिचन्द्र जैन ने 'तार सप्तक' का पुनर्मूल्याकन करते समय 'अज्ञेय' को उसके 'प्रकाशक मात्र' से और गिरिजाकुमार माथुर ने उसे 'मात्र संगठनकर्त्ता' से अधिक हैसियत देना उपयुक्त न समझा होता।

परम्परा की बात पर फिर लौटता हूँ। नयी कविता ने उसके प्रति विरोधी आस्था से काम लिया। किन्तु बोझिल अतीत की भूमिका के बावजूद भी भारतीय बुद्धिजीवी के लिए परम्परा उपादेय सिद्ध नहीं हुई। स्थितियों ने उसके आगे प्रतिष्ठा और पदो के अनेक मार्ग उद्घटित किये। परम्परा पीढ़ी से सटी रही। परिणाम यह हुआ कि वह अवाक् और चमत्कृत होकर, अपनी ही पराजय के मोह मे, गौरवान्वित अनुभव करने लगा। विरोध गल गये, और विनत मन.स्थिति मे नयी कविता का पौरुष स्त्रैण रोमैन्टिकता का पक्षधर होकर, अपरोक्ष मे छायावादी आरम्भ के आध्यात्म की वकालत करने लगा। इन विरोधाभासो मे मुझे लगा कि परम्परा आदमी की दाढ़ी की तरह है जो बार-बार उग आती है, और हर बार आदमी उसकी पौध को काट फेंकता है। प्रश्न यह है कि उसे कौन कितना काटता है? जाहिर है, कुछ उस पौध को बढ़त को सहेजते हैं, इस सीमा तक कि उसका आगे बढ़ना रुक जाता है तथा कुछ हैं कि उसकी थोड़ी बहुत काट-छाँट करते रहते हैं। लेकिन कुछ उसे जड़ो के नजदीक तक नष्ट करते हैं, इस अहसास के साथ कि वह अन्दर मौजूद है, और कल फिर उग आयेगी।

अकविता निश्चय ही अन्तिम पक्ष मे विश्वास करती है। उसे परम्परा के भीतर होने का बोध है, लेकिन उसे काटते चले जाना होगा क्योंकि वह व्यर्थ है। काटते चले जाने की कोशिश नकारात्मक गति है। इस दृष्टि से अकविता न 'अव्यवस्थित एवं असंयोजित कथन है,' न अनर्गल और

अर्थहीन रचनाओं का संचयन। इस दशक की विरूपित विसंगतियों के शब्देतर संकेतों द्वारा अतिमा की ओर ले जाने वाली रचनाएँ जब दुर्बोध घोषित की जाती हैं तो प्रायः आम पाठक के स्तर का आश्रय लिया जाता है। दायित्व लेखक के सर मढ़ा जाता है, जिसकी ईमानदारी वस्तुतः निस्संग होने में है। उदाहरणस्वरूप मुद्राराक्षस को लिया जा सकता है। उसका यह आग्रह तो नहीं है कि उसकी अतर्क्य कविताएँ कोई पढ़े ही। अगर यह आग्रह उसकी नियत में होता तो उसकी 'स्टिल लाइफ' और 'न्यूड' जैसी अकविताएँ कविताएँ नहीं होतीं। अगर वे बोधगम्य नहीं हैं, तो न सही। वह कब कहता है कि उन्हें समझा जाये। अर्थवत्ता का सवाल ही नहीं उठता। रचना प्रबुद्ध बुद्धि कुछ भी बुन सकती है और उसकी अतर्क्य अभि-व्यक्ति को पाठक किसी भी नजर से ले सकता है। राजा नंगा है, यह सब जानते थे। लेकिन बात किसी ने नहीं कही। सिर्फ एक लड़के ने भांडा फोड़ दिया। मुद्राराक्षस जब यह बात कहता है कि ध्वनि-तन्तु भी बोध अथवा बौद्धिक प्रक्रिया के मूलाश हैं तो उसकी बात में वही सत्य है, जिसे हर कोई जानता है, लेकिन स्वीकार करने से डरता है। ऐसा कहते वक्त मुद्राराक्षस वर्तमान की सत्ता से अपने प्रिमिटिव सेल्फ में कहीं अलग खड़ा हो जाता है। तब उसकी रचना वृत्ति-ध्वनि तन्तुओं के संगठन में कुछ भी बना सकती है। आवश्यक नहीं कि उसका रूप पारम्परिक हो। उसे समझा ही जाये-समझने की उस संगति में जो पीढ़ियों से विरासत में मिली है।

दृष्टि का सूक्ष्मतर होना अथवा विषय में विषयहीन हो जाना भी एक मानसिक प्रक्रिया है, जो बाह्य-वास्तविकता में आभ्यंतर वास्तविकता की ओर ले जाती है: टब में संचित जल में डूबी हुई टांगों का अंश टेढ़ा और बौना दिखायी देता है। सच यह है कि वह टेढ़ा नहीं होता, मगर टेढ़ा दिखाई देता है। उसका टेढ़ापन बाह्य वास्तविकता है, तर्क से उपलब्ध प्रामाणिक सत्य। अकविता की यह भी एक सम्भावित गति है। आरोपित सत्य के इस विभ्रम को भंग करते समय, [illegible]भाविक है कि दुर्बोधता आज के पाठक के पक्ष में होगी, कवि के पक्ष में नहीं। इसे चाहे दायित्वहीनता, निरानुशासन, स्वच्छन्दता कुछ भी कहा जाये, किन्तु विचारणीय यह है कि जिसे कविता का दायित्व कहा जाता है वह 'प्रकट सत्य' तथा 'वास्तविक सत्य' के स्तरों पर कहाँ अवस्थित है और कविता परम्पराओं की रूढ़ अपेक्षाओं से कहाँ आकर अलग होती है, अथवा अनुशासन की सीमाएँ किन सन्धि-रेखाओं पर आकर विकेन्द्रित होती हैं जिनके विघटित होने पर कविता कविता होने से वंचित हो जाती है।

असन्तुष्ट और अत्यन्त विडम्बनात्मक विकृतियों से ग्रस्त पाया। विरोधाभास और विसंगतियो से उद्भूत जड़ता ने उसे कुंठित कर दिया। उसने समकालीन बुद्धिजीवियो को सत्तागामी नेतृत्व मे खण्डित होते देख लिया था। सामाजिक तिरस्कार और व्यक्तिक्रम के मध्य उसे अपने अस्तित्व के लिए वैचित्र्य ही साध्य एवं साधन लगा। उस वैचित्र्य का भी एक पैटनिस्टिक रोमैन्टिकता में जाकर अन्त हुआ। गिलवर्ड सोरेन्टीनो से उसके बीट मित्रो के बारे मे बी० बी० सी० के एक भेंटकर्त्ता ने जब प्रश्न किया तो उसका उत्तर था: 'सभी बीटम् रोमैन्टिक हैं। रोमैन्टिक उदण्ड अर्थ मे, क्योकि वे अहम् मे पगला गये हैं। उनका ख्याल है कि वे अपने सम्बन्ध मे जो कुछ भी व्यक्त करेंगे लोग उसमे रुचि लेंगे।' इस उद्धरण को शायद यहाँ उद्धृत नही किया जाता, यदि 'प्रारम्भ' के प्रकाशन पर डॉ० माचवे ने 'अज्ञेय' की रुचि और आज की रुचि मे फर्क आजाने की वास्तविकता का समर्थन न किया होता, या नेमिचन्द्र जैन ने 'तार सप्तक' का पुनर्मूल्यांकन करते समय 'अज्ञेय' को उसके 'प्रकाशक मात्र' से और गिरिजाकुमार माथुर ने उसे 'मात्र संगठनकर्त्ता' से अधिक हैसियत देना उपयुक्त न समझा होता।

परम्परा की बात पर फिर लौटता हूँ। नयी कविता ने उसके प्रति विरोधी आस्था से काम लिया। किन्तु बोझिल अतीत की भूमिका के बावजूद भी भारतीय बुद्धिजीवी के लिए परम्परा उपादेय सिद्ध नही हुई। स्थितियों ने उसके आगे प्रतिष्ठा और पदो के अनेक मार्ग उद्घटित किये। परम्परा पीढ़ी से सटी रही। परिणाम यह हुआ कि यह अवाक् और चमत्कृत होकर, अपनी ही पराजय के मोह मे, गौरवान्वित अनुभव करने लगा। विरोध गल गये, और विनत मन स्थिति मे नयी कविता का पौरुष स्त्रैण रोमैन्टिकता का पदाधर होकर, अपरोक्ष मे छायावादी आरम्भ के आध्यात्म की बरादत करने लगा। इन विरोधाभासो मे मुझे लगा कि परम्परा आदमी की दाढ़ी की तरह है जो बार-बार उग आती है, और हर बार आदमी उसकी पौध को काट फेंकता है। प्रश्न यह है कि उसे कौन कितना काटता है? जाहिर है, कुछ उस पौध की जड़ को सहेजते हैं, इस सीमा तक कि उसका आगे बढ़ना रुक जाता है तथा कुछ हैं कि उसकी थोड़ी बहुत काट-छाँट करते रहते हैं। लेकिन कुछ उसे जड़ों के नजदीक तक नष्ट करते हैं, इस अनुमान के साथ कि वह अन्दर मौजूद है, और कल फिर उग आयेगी।

अकविता निश्चय ही अन्तिम पदा मे विश्वास करती है। उसे परम्परा के भीतर होने का बोध है, लेकिन उसे काटते चले जाना है क्योंकि वह व्यर्थ है। काटने चले जाने की कोशिश सकारात्मक नहीं है। इस दृष्टि से अकविता न 'सम्प्रेषणीयता एवं अर्थगोपित कथन है,' न अनर्गल और

अर्थहीन रचनाओं का संचयन। इस दशक की विरूपित विसंगतियों को गम्भीतर संवेगों द्वारा अतिमा की ओर ले जाने वाली रचनाएँ जब दुर्बोध घोषित की जाती हैं तो प्राय. आम पाठक के स्तर का आश्रय लिया जाता है। दायित्व लेखक के सर मढ़ा जाना है, जिसकी ईमानदारी वस्तुत. निस्संग होने मे है। उदाहरणस्वरूप मुद्राराक्षस को लिया जा सकता है। उसका यह आग्रह तो नही है कि उसकी अतर्क्य कविताएँ कोई पढ़े ही। अगर यह आग्रह उसकी नियत मे होता तो उसकी 'स्टिल लाइफ' और 'न्यूड' जैसी अकविताएँ कविताएँ नही होती। अगर वे बोधगम्य नही हैं, तो न सही। वह कब कहता है कि उन्हे समझा जाये। अर्थवत्ता का सवाल ही नही उठता। रचना प्रबुद्ध बुद्धि कुछ भी बुन सकती है और उसकी अतर्क्य अभिव्यक्ति को पाठक किसी भी नजर से ले सकता है। राजा नंगा है, यह सब जानते थे। लेकिन बात किसी ने नही कही। सिर्फ एक लड़के ने भाँडा फोड़ दिया। मुद्राराक्षस जब यह बात कहता है कि ध्वनि-तन्तु भी बोध अथवा बौद्धिक प्रक्रिया के मूलाश हैं तो उसकी बात मे वही सत्य है, जिसे हर कोई जानता है, लेकिन स्वीकार करने से डरता है। ऐसा कहते वक्त मुद्राराक्षस वर्तमान की सत्ता से अपने प्रिमिटिव सेल्फ मे कही अलग खड़ा हो जाता है। तब उसकी रचना वृत्ति-ध्वनि तन्तुओ के सगठन से कुछ भी बना सकती है। आवश्यक नही कि उसका रूप पारम्परिक हो। उसे समझा ही जाये—समझने की उस संगति से जो पीढ़ियों से विरासत मे मिली है।

दृष्टि का सूक्ष्मतर होना अथवा विषय से विषयहीन हो जाना भी एक मानसिक प्रक्रिया है, जो बाह्य-वास्तविकता से आभ्यंतर वास्तविकता की ओर ले जाती है: टब मे संचित जल मे डूबी हुई टाँगो का अंश टेढा और बौना दिखायी देता है। सच यह है कि वह टेढा नही होता, मगर टेडा दिखाई देता है। उसका टेढापन वाह्य वास्तविकता है, तर्क से उपलब्ध प्रामाणिक सत्य। अकविता की यह भी एक सम्भावित गति है। आरोपित सत्य के इस विभ्रम को भंग करते समय, ाभाविक है कि दुर्बोधता आज के पाठक के पक्ष मे होगी, कवि के पक्ष मे नही। इसे चाहे दायित्वहीनता, निरानुशासन, स्वच्छन्दता कुछ भी कहा जाये, किन्तु विचारणीय यह है कि जिसे कविता का दायित्व कहा जाता है वह 'प्रकट सत्य' तथा 'वास्तविक सत्य' के स्तरो पर कहाँ अवस्थित है और कविता परम्पराओ की रूढ़ अपेक्षाओ से कहाँ आकर अलग होती है, अथवा अनुशासन की सीमाएँ किन सन्धि-रेखाओ पर आकर विकेन्द्रित होती हैं जिनके विघटित होने पर कविता कविता होने से वंचित हो जाती है।

उसका कथ्य ही उसका शिल्प होगा। भाषा की गत्यात्मकता निरंकुश सहजता से जो उपलब्ध करेगी वही उसका अपना रूप होगा। उसकी दृष्टि वास्तविक सत्य के हित में अतक्यं तथ्यों के प्रति कभी-कभी शब्देतर भी हो सकती है: तब उसे आदमी की शक्ल में बन्दर या गधे का चेहरा नजर आये तो अतिरेक नही होगा, बल्कि उसका ऐसा अनुभव वास्तविक सत्य की उपलब्धि होगा। उसकी अनुभूति पिकासो की तरह वस्तुओं को उनके बाह्य रूपों से मुक्त करेगी और वह सब देखेगी जिन्हें माइक्रोस्कोप और टेलीस्कोप की आँखें नही देखती। यो तो यह सिद्ध कर पाना ही कठिन है कि जिस वस्तु जगत को हम देखते हैं उसे वास्तव में हम देख भी रहे हैं या नही? क्योकि बहुत कुछ नंगा है, और भाषा बौनी है।

"गद्य जीवन संग्राम की भाषा है" कभी निराला ने कहा था। अकविता उसी गद्य की ओर जा रही है जिसमे आज की मनःस्थिति उपयुक्त बैठती है। इस सन्दर्भ मे विरूप को सुन्दर के साथ स्वीकार करने का साहस वास्तविकता को आस्था प्रदान करना है। कविता मे 'फिनिश' कोई चीज नही होती। कुछ पंक्तियो को लिखने के पश्चात् रचना-रत बुद्धि इस निष्कर्ष पर आखिर कैसे पहुँच जाती है कि उनमे एक कविता बद्ध है? अक्सर अनघढ पंक्तियो मे भी पूर्ण कविता का बोध होता है। चित्र संरचना मे भी यही अनुभूति प्रयोजनीय है। लेकिन दोनो विधाओ में आन्तरिक चेतना हर स्थिति मे आवश्यक है। उसके बिना विरूप को भाषा नही दी जा सकती। एजरा पाउण्ड ने एक बार कहा था कि कला के साथ जब कोई गलत बात हो रही हो तो वह मात्र कलाओ तक ही सीमित नही होती। क्योंकि सौन्दर्य बहुत मुश्किल चीज है, उसे सन्दर्भ विहिन नही रखा जा सकता।.....विसंगति 'औरांग-उटांग' की उपलब्धि है। सन्दर्भ रहित होकर उसकी उद्भावना सम्भव नही। इसलिए उसकी एक अलग 'हारमनी' होती है। उसका कोई व्याकरण नही है। उसका कोई आदर्श नहीं है। उसका कोई ममोह नहीं है।

अकविता की नियति अकेलेपन की नियति नही, बल्कि विघ्न-संबंधो की नियति है। लेकिन इस नियति को व्यक्ति बहुत उपेक्षा से ग्रहण करता है, क्योकि उसका होना ही उलझावो के प्रति उसकी स्वीकृति है। सम्बन्धों की नियति जिन जटिलताओं को उत्पन्न करती है उन्हें बृहत्तर परिवेश में अर्थहीन विरूप कविताओं और विविध प्रयोगो तक पूर्ण निस्संगता से प्रदर्शित किया जा सकना असम्भव नही। अकविता इन विसंगतियों को उन मुहावरो मे ग्रहण करती है जो अपेक्षाकृत बहुत साफ और गैर रोमैन्टिक होते हैं। बहुत ही घुसे हुए एक शब्द का प्रयोग करते हुए कहा जाये तो 'परिवेश' ने

साफ और वास्तविक होना भी एक दूसरी कठिनाई का निमित्त बनता है जो पाठक के लिए अपरिचित है। कितनी ही सरल और सीधी व्यञ्जना हो, उसके भीतर की अनवर्य संगति एकायक पकड़ में नहीं आती।

यह स्थिति न मटवाद की स्थिति है, और न उलजलूल बीट रोमैन्टिकता की। इसका न क्षुधित पीढ़ी से सम्बन्ध है, न कामू की ऐब्सर्ड निरर्थकता से। यह तो कच्चे आइने में नयी कविता द्वारा देखे गये व्यक्ति को उसकी वास्तविकताओं के देखने का एक सिलसिला है। यह सिलसिला पिछली कविता के आरोपित आभा-मंडल को खंडित करता है। स्वयं 'तार सप्तक' के कुछ कवियों ने यह किया है अथवा अब करने की मन.स्थिति में अपने को पाते हैं। अतएव, अकविता विद्रोह नहीं बल्कि सही कविता की दिशा है। दिशाओं में और दिशाएँ तलाश करने की कोशिश है। विद्रोह तो उससे किया जा सकता है, जिसकी कुछ उपलब्धि हो। नयी कविता दुर्भाग्य से 'संवेदनात्मक ज्ञान' और 'ज्ञानात्मक संवेदना' के बीच झूलती रही और यह फैसला नहीं कर पायी कि उसकी सही दिशा क्या है। अकविता के लिए गुदगुदी संवेदना और भावुकता कच्ची समझ की सूचक है। प्रौढ़ मन. स्थिति अपनी पूर्ण चेतना के साथ कविता करती है। भीतर द्रवित होती लज्जालू भावप्रवणता ऐसी छलना है जिसे एक प्रकार का 'खम' देने के प्रयत्न में नयी कविता शिल्प के चक्कर में पड़ी रही। अकविता न 'खम' देना चाहती है, न शिल्प की गुलाम बनना। इसे 'शरारत पूर्ण सह-संहयोजन' भी नहीं कहा जा सकता। इसके द्वारा शब्द और अर्थ की सम्पूर्ण सत्ता का कोई निरादर भी नहीं किया जा रहा है। इसका आशय न अच्छी कविता होने के बोध से है, न बुरी कविता के प्रवर्तन से। क्योंकि अच्छी या बुरी कविता एक विभ्रम है। रचना मात्र कविता होने से न अच्छी होती है, न अकविता होने से बुरी। अकविता केवल पिछली कविता की सौन्दर्यपरक औपचारिक अभिव्यञ्जना और शब्दों की रूढ़ मर्यादाओं के प्रति नकारात्मक अहसास है। यह अहसास ही अभिरुचियों के बीच फासले का स्पष्टीकरण है। अकविता वास्तविक कविता की प्रतीति है, क्योंकि उसकी दृष्टि का वास्तविक सत्य प्रगट सत्य से भिन्न है। इसलिए उसकी रचना-बुद्धि भावुकता-शून्य है। समूची चेतना के स्तर पर अकविता का अभिप्राय अनिबद्ध होना है। ओढ़े हुए संस्कारों वाले शब्द उसे अपर्याप्त लगते हैं। जाहिर है, हमारी भाषा अधूरी है। जिस भाषा की पूर्णता का दावा किया जाता है, वह कविता की भाषा नहीं, स्तरीय-सम्बन्धों की भाषा है। उसमें औपचारिकता का निर्वाह किया जा सकता है, कविता नहीं की जा सकती।

••

कब 'नवनीत' उभर कर आता है। [illegible]
विदा के साथ ही छायावाद के [illegible]

•

अकविता इसी संक्रान्त क्षितिज पर, [illegible]
कविता से अलग स्वर को जन्म देती है। [illegible]
दोष नहीं है। मिथ्या माया और उसके [illegible]
के लिये अनिवार्य निमित्त है। [illegible]
जा रहा है। अकविता का, इस दृष्टि से, निजी दर्शन है। [illegible]
उसका अंतरंग संगीत विहीन है। 'लगता है कि [illegible]
इतनी क्रूर हो जाती है, पहचान में नहीं आती।'

[अतुल भारद्वाज 'रचना' ६४]।

वर्तमान स्थितियों ने कविता को समाज से बाहर [illegible]
सोचने का एक स्तर ऐसा भी बन गया है कि 'तमाम आवाजें और [illegible]
शत्रु हैं।' प्रतिरोध अपनी सतह से और अधिक ऊपर उठकर [illegible]
बन्धनों में आग लगाने और नगरों और महिलाओं की गरिमा का [illegible]
करने की बलवती इच्छा' (जगदीश चतुर्वेदी) को भड़काता है। [illegible]
व्यक्ति तमाम जानवरों की फेहरिस्त में खुद को शरीक कर [illegible]
(मनोज जमाली) या फिर उसे 'जिन्दगी घास का गट्ठर [illegible]
(विष्णुचन्द्र शर्मा)। युग की थोथी राजनीति में दिमागों का [illegible]
निरर्थकता उत्पन्न करता रहा। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का ढकोसला [illegible]
और अधिक बाँधने का अधिनायकत्व सिद्ध हुआ। शिविरों में [illegible]
साहित्यिकता विभाजित खेमों में, अल्पसंख्यक शिक्षा-व्यावसायियों की [illegible]
बन कर रह गयी। आहत ईमानदारी को प्रकट होने के लिये मार्ग [illegible]
कर दिये गये। युद्ध अहद् के परिणाम साबित हुए।

संहार स्वाभाविक नियति बन गया, और खोखले आदर्श [illegible]
व्यक्तियों के लिए व्यर्थ हो गये। इन सबके लिए आक्रोश की स्थिति [illegible]
तक बनी रही। उसकी *आगामी* पहल आक्रोश-विहीन उपेक्षा में होना [illegible]
सम्भव हुई। वर्तमान में रह कर उससे अलग और मोड़े सम्बन्धों से [illegible]
अतर्क्य एवं परस्पराश्रित प्रक्रियों को खुली आँखों से देखना उसकी
साबित हुआ :

हर एक हो जानवर बनाती है
(अजब-अजब करतब दिखाते हो) :
बिना किसी चोट के औंधा कर
मजबूरी है-

देखो न !
खुद तुम्हारे पैरों और सर के बीच
कितनी बड़ी दूरी है ।

[श्रीराम वाजपेयी : शब्द चिरिता]

तनाव में पली शायद चेतना की यह प्रतिक्रिया वस्तुतः तनावों को अपने ऊपर से सहज गुजरने नहीं देती । उसकी विवशता है कि सभ्यता की गंदी रस्मों उसको मरने नहीं देती । अतएव उसके लिए अनिवार्य है कि वह मशीनी विसंगतियों से चोटें नहीं । संवेदनशील नहीं हो । संयोगपरक व्यञ्जनाओं को अथाह मन से उगने नहीं । नयी कविता में यह सब हो चुका है । छायावाद के समय में विज्ञान और विचारों का जो वैभव देश में आया उसने दो तीन दशकों तक कविता की प्रतिभा को टटकी मनः स्थिति में रखा । 'पेस्टोरल' जिज्ञासा उस कोटि के काव्य में आज भी मिलती है । समय आगे सरक गया, पर उसके सृजन सूत्र इतिहास के गौरव से बंधे रहे । नयी कविता से भिन्न, सातवें दशक के कृतित्व को नयी सभ्यता और उत्कृष्ट वैज्ञानिक उपलब्धियां विरासत में मिली । इसलिए उनके प्रति विमोह की स्थिति अकविता में नहीं मिलती । अतीत और भविष्य के बीच उसके संघर्ष की भूमि मात्र ही उसका वर्तमान है । भविष्य में क्या होगा, कविता मरेगी या जीयेगी ? अकविता प्रतिष्ठित होगी या अन्धड़ में नष्ट हो जायेगी, इसकी चिन्ता से कोई लाभ नहीं ।

प्रतिष्ठा एक माया-दर्पण है और प्रतिष्ठा प्राप्त छायावाद का नवोन्मेषी काव्य नयी कविता एक उपयुक्त उदाहरण है कि प्रतिष्ठा की परिणति क्या होती है । अकविता इसीलिए व्यक्ति के एकक स्वभाव की उपज नहीं हो सकती बल्कि उसका आरम्भ ही खण्डित सहसम्बन्धों से होता है । एक प्रकार की सामूहिक रिक्तता और अव्यक्त विवक्षा को शब्द देने के प्रयास में अकविता का दुर्बोध होना प्रायः सम्भव है । किन्तु कविता यदि मनुष्योचित व्यवहार की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है तो मनुष्य की अनेकानेक जटिलताओं को वह निस्संकोच वहन करेगी । अनुभूति की यथार्थ पर्तें तब स्वयं इस माध्यम द्वारा अपनी शैली नियोजित करेंगी जिसकी सृजन क्षमता प्रक्षेपान्तिक (प्रोजेक्टाइल) होगी । अतः अकविता का प्रश्न कविता की समग्र ध्वनि को उदात्त या अनुदात्त करने से नहीं जुड़ा है, बल्कि उसकी ध्वनि में अमूल परिवर्तन करने की सम्भावनाओं से सम्बंधित है । ऐसा लगता है कि हम एक बड़े पार्थक्य के निकट आ रहे हैं । आगामी वर्षों में यह पार्थक्य और अधिक स्पष्ट होगा ।

सोचने पर 'कविता' और 'नयी कविता' साधारण शब्द प्रतीत होते हैं । कविता शब्द में 'अ' जोड़ने से उक्त दोनों शब्दों के बासीपन से मुक्ति

मिलती है। लेकिन वस्तु-तथ्य यह है कि कविता का 'अ' निषेध बोधक नहीं है। 'अकविता' शब्द अपने आप मे पारिभाषिक शब्द के रूप मे स्वीकृत किये जाने की स्थिति मे प्रयुक्त किया जा रहा है। कविता से सम्बन्धित रूढ़ मान्यताओ और सैद्धान्तिक अवरोधो से मुक्त रचनाओ के लिए इस शब्द की सार्थकता छुपी नही है। उसी संदर्भ मे 'अकविता' शब्द के प्रयुक्त किये जाने की अपेक्षा है। इस माने मे यह शब्द प्रतिनिधित्व के लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ है। कविता के वास्तव्य को महत्त्व देते हुए अकविता किसी प्रतिबद्धता से, इसी आधार पर, ग्रस्त नही है। उसके अभिप्राय बहुत साफ हैं। आहत मर्म की कुंठित व्यञ्जनाओ को उसका कवि बहुत पहले देख चुका है। इसलिए उसकी संवेदनाओ पर बौद्धिक तटस्थता का प्रभाव है। कदाचित् अन्तरतम प्रक्रिया की 'इन्टेन्सीटी' मे अकविता की उपलब्धि एक अन्य धरातल प्राप्त करती है। इस दृष्टि से वह समाज-विरोधी नही, बल्कि समाज से बहुत गहरे मे सम्पृक्त है। जिस वस्तु को हम यथार्थ समझते हैं उसके अतिरिक्त हमें अनेक अन्तर्निहित बिम्ब, विश्वास, आस्था और अनास्थाएँ स्पर्श करती है जिनकी अभिव्यक्ति प्रकट रूप से अमूर्त प्रतीत होती है। वास्तव मे वह अमूर्त नही होती। उसका अस्पष्ट धुंधला और विकृत रूप यथार्थत वास्तविक होता है, एक बाहरी वास्तव्य के भीतर अलग वास्तव्य। इसी अलग वास्तव्य के लिए अकविता का मार्ग अवरोधो के बीच से गुजरता है। यहाँ निश्चय ही पूर्ववर्ती काव्य से अलगाव स्पष्ट है। सेक्स और मृत्यु भोग से भय खाने वाली पीढ़ी जब कविता की भाषा को, अलगाव की इस स्थिति मे, निरवस्त्र होना हुआ पाती है, तो उसके संस्कारो मे दबे हुए नयी कविता के मुहावरे बराबर अवशिष्ट होते हैं।

अकविता वस्तुत: कविता के ऊबे हुए लोगो की अभिवृत्ति है। यह ऊब नैराश्यजाया नही, न ही ऐसे लोगो की प्रतिक्रिया है जिन्हें 'आइडेन्टिटी' की आवश्यकता है। नैराश्य अब स्वभाव का अंग बन चुका है। और यहाँ 'आइडेन्टिटी' उस स्तर की तृषा नही जो आन्दोलन चलाने वालों मे होती है। यह मात्र विवशता है, और कविता ही उसके लिए उपयुक्त विधा है।

'मैंने अपनी नसो का जाल बुनकर एक अदृश्य तालाब मे फेंक दिया है। वह तालाब अगर तुम्हारा जिस्म हो या जिस्म न हो, बहरहाल तालाब हो—फर्क सिर्फ मेरे होने का है जिसे मैंने केवल असमान मे किसी महसूस किया है।'

[सौमित्र मोहन [illegible]]

उक्त उद्धरण के [illegible] मे अकविता मनुष्य के उन सम्बन्धो पर भी उंगलियाँ रखती है [illegible] है। अमूर्तन का यह अलग काव्य-
[illegible] [illegible] दर्शन से प्रारम्भ होती है और

परिणामतः कथ्य में उसका प्रचलित अर्थ खतरे में पड़ जाता है। ऐसी प्रक्रिया न औषध वृत्ति की है, न हीनता और पलायन की। वैचित्र्य इसमें तनिक भी नही। उसकी भलक देने का प्रयत्न भी नही है। यह मानवीय स्थिति है जिसका संकेन्द्रण सामाजिक रिश्तों और राजनयिक दिवालियेपन में होता है। सच तो यह है कि सपाट गद्य और असंगत तथ्यों के समग्र प्रभाव की सहजता में—'अकविता का एक नया व्याकरण बन रहा है। लय की अनिवार्यता या अर्थ का लय खोजने वाले नयी कवितावादी यदि इसमे आश्चर्यान्वित हों या इसे नकारने की कोशिश करें तो विस्मय की बात नही है' (जगदीश चतुर्वेदी)।

केवल कुछ शब्द हैं
जिन्हे हम खौलते पानी मे निकाल कर
रेत पर सुखा रहे हैं

[चन्द्रकान्त देवताले : अंत नही हो रहा है]

अकविता के लिए नयी कविता या नवगीत विरोध योग्य नही है। आन्दोलन वृत्ति के लोग व्यर्थ ही इसे गुट या षडयंत्र की संज्ञा देते हैं। अकविता के प्रति उनकी इस भ्रांति के प्रति अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नही लगता। अब स्थिति यह है कि अकविता का प्रवादास्पद वर्तमान धुंध मे नहीं है। वह अपने भविष्य की मंजिल पर भी अकविता ही रहेगी। प्रतिष्ठित होकर उसे अपनी मृत्यु की घोषणा नही करनी है। उसका विलयन, मात्र अकविता से पार्थक्य स्थिति के, 'अ-कविता काव्य' मे ही सम्भव है।

साफगोई पसन्द अकविता की भाषा रोमान्टिक स्तर की नहीं है। उसमे शालीन विक्षोभ है। स्पष्टतः, अनघढ़ता उसका स्वभाव है। जीवन मे प्रविष्ट 'कोलाज' वृत्ति का विघटन अकविता की व्यंजना को तिक्त और बेलौस बनाता जा रहा है इसलिए इसके कृतित्व मे कोई लय नही, संगीताभास नही। संगीत और लय को लेकर कविता की व्याख्या बहुत हो चुकी। चूंकि अकविता अरुचि प्रतिक्रिया है, इसलिए आन्तरिक रूप से असंगीतात्मक है। क्षण जाये संवेगो की यह सृष्टि नही। इसका अग्निबीज समाज की अनेकानेक विरूपित मुद्राओं और व्यक्ति की विसंगत अभिवृत्तियो में निहित है। विलम्बित विक्षुब्ध क्षणों मे आहत प्रबुद्ध मन की 'टिप्सी' सांकेतिकता एवं अपने सम्पूर्ण निर्णय से किसी 'स्पार्क' के खुले प्रभाव का द्योतन अकविता के लिए सहज है। तिक्तता और केथटसी सम्पुष्टि को उसने स्वीकार कर लिया है। इसीलिए अकविता पाठक को झुंझलाती है। साहित्य को स्वीकार करने की नियत पद्धति पर चलने वाले आलोचक को इसका तेवर कचोट देता है।

अतएव रिक्त-रहित अनासक्ति मात्र की अकविता कोई वाद नहीं। वह मात्र विच्छेद का संकेत है : विच्छेद साहित्यिक औपचारिकता से, सातत्य मान्यताओं से, सन्दर्भ-विहीन अभिप्रायों से, छंद से, मृत प्रायः काव्य-मुहावरों से। यहाँ अनुभूति की चेतना व्यक्ति को उसके अतीत में काटती चलती है। ऐसा तभी होता है जब हमारा मन प्रतिबद्धताओं को छोड़ दे और तथ्यों को पूर्ण निर्ममताओं के प्रेक्ष्यविन्दु से समझने का प्रयत्न करे। तभी उसके लिए भाषा-स्तर पर स्वयं दोहरी सत्ता से मुक्त होना सम्भव होता है। यह स्थिति अकविता में अर्थंतर होकर भी संकेतों में विद्रूप को व्यक्त करती है।

'अर्थ के अवरुद्ध अकाय में बार-बार विस्फोट होते हैं और लोहे की शिराओं में छिदी आँखों से रक्त की जगह मरे हुए साँपों के केंचुल गिरते हैं।'

•••

नई मानवता (नई रचना नहीं) केवल आक्रोश-जन्य नहीं, न मनोविकार की बात है जो सामाजिक विघटित संस्कारों का विरेचन करने से भी बात नहीं बनती। उसका न अतीत है, न भविष्य; क्योंकि नगरों की बस्तियों में जिस औद्योगिक का ढांचा अनुकूलन को निरन्तर चोट से जर्जर कर दिया गया है उसका आज के व्यावसायिक समाज और उसकी प्रक्रियाओं से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रह गया है। इस तरह से उस चुनौती के समक्ष सन्दर्भ नवीनतम सभ्यता के लिये अपना अर्थ खो चुके हैं, या खो रहे हैं। इतना ही नहीं, वर्तमान स्थिति में—पारस्परिक रूप से बदले परिवेश में—मनुष्य की जो सामाजिकता 'सभ्यता' कही जाती है उसके लिए 'सभ्यता' शब्द भी छोटा हो गया है।

आयोनेस्को जिस 'अनाभिव्यक्त यथार्थ' (इनकम्युनिकेबल रियलिटी) को समस्त विसंगतियों और उत्तमसूलताओं के साथ नंगा करना चाहता है, वह यथार्थ सभ्यता के सतही सिलसिले से कटा हुआ है। क्षुधित पीढ़ी जिस औपचारिकता के विरुद्ध मनुष्य के 'आस्तित्व की एक अजीब क्षुधा' के लिए 'मैं' ही सब कुछ है' (सुविमल बसाक) से आकर उद्भ्रान्त हुई, वह उद्भ्रांति उन्मादी औघड़ और 'सोभियों' की सामाजिक अवज्ञा से अलग है। अगर जीवन से सम्बन्धित देह के प्रगाढ़ रिश्ते को साहित्य से अस्वीकार नहीं किया जाता तो कविता में उसकी अकुलाहट और बर्बर मोह—यंत्रणा से परहेज क्यों किया जाये ? तर्क के स्तर पर रस्यात्मक विवशताओं को चाहे यूनानी

कवयित्री मैफो की अतृप्त कुण्ठाओं मे जोडा जाये, चाहे अतीत के गुह्य कर्मों से, वास्तविकता यह है कि नयी व्यवस्था के अहसास मे नारी और पुरुष के सम्बन्धो की परिभाषा बदल गयी है। इसलिए आवाँगार्द का उन्मेष और आक्रमक तेजी बदली हुई परिभाषाओ के दौरान पश्चिम मे एक फैशन के बतौर स्वीकार कर ली गई सभ्यता का एक और स्तर रूमानी आधार पा गया।

"" सामाजिक आवर्तनो ने जिस सभ्यता को महानगर के चौराहे पर लाकर खड़ा किया है उसकी हड्डियो पर चिपके मास को नोच कर बलात, थके हारे 'बीटन डाउन'—बीटनिको ने उसे भूखे प्यासो की ओर ढेल दिया। कलकत्ते मे आकर सभ्यता के उसी कंकाल की रानो के बीच चिपके स्यूको-प्लान्ट को मलयराज चौधरी की टोली ने, एलेन गिन्सबर्ग की प्रेरणा से, उधेड़ना शुरू किया। नाभी के नीचे, नारी के फूलबगान की तीव्र ललक (हनी का जन्म दिवस समीरराय चौधरी) और 'कौनेप्सिबल जाघो' पर पड़े हुए गुलाव मे (कन्वेक्स गुलाब मलयराज चौधरी) 'ह्यूयीयलिज्म' का अवमान हो गया। 'प्रेमिका के ब्लाउज से अपनी कविता की कापी की जिल्द बाँधकर' खुश होने की वंशोर्य भावुकता ने अन्त मे यही पाया कि 'जीवित रहने का कोई अर्थ नही है' (सदीपन चट्टोपाध्याय)।

बीट चाहे वह ठंडा हो या गरम 'किक' चाहता है। उसकी नकारात्मक दृष्टि, अवज्ञा और बावडियापन—डाउन विथ एव्रियिंग—उसे अकेला बनाते है। वह निठल्ले और मानसिक रोगियो की तरह व्यवहार करता है। इस बाह्य व्यवहार ने उसकी अनेक विशेषताओं को उभरने नहीं दिया। बीटनिको द्वारा कविता मे जो नयी उपलब्धि हुई उसका मूल्यांकन करने के बजाय, अधिकतर लोगो का ध्यान इस बात पर अधिक ध्यान गया कि वे रहते कैसे है, उन्माद के लिए मादक द्रव्य का सहारा लेकर किस प्रकार नारी की देह मे 'सेटोरी' पाते हैं, या विलक्षण चेष्टाएँ करते हैं या जीवन को दिमाग के अंधेरे दौर का साथी समझकर 'स्क्वायर' (ढोंगी) सभ्यता के विरुद्ध एक और ढोंग से किस प्रकार व्यापक ढोंग को ठेंगा दिखाते है।

हिन्दी मे अकविता को अक्सर इन सबके साथ जोड़ने की एक भोंडी कोशिश प्राय की जाती है। मगर अकविता जैसी कोई स्वतन्त्र चीज पश्चिम मे नहीं हुई। 'एन्टी थियेटर' के प्रवर्तको ने यह जरूर महसूस किया कि नाटक को कविता के नजदीक लाना उपयुक्त होगा। अतएव जो समीक्षक बीट, नाराज और भूखे-प्यासो के साथ अकविता को पश्चिम की अनुकृति कहते है वे भूल करते है। अकविता सन्तुलित मन स्थिति का विक्षोभ है। वह भविष्य मे प्रतिष्ठित होना नहीं चाहती। भविष्य आस्थावादी पीढ़ियो का है, उनके

अवचेतन को जरूरत नहीं होगी। उनके लिए कविता आवारा, मजूरी और जुआरी होकर रहना चाहेगी। 'विद्रोह' और निषेध का उसे नहीं चाहिए। वह टूटी हुई एक लकीर बनकर रह जाने वाले संदर्भों की दुकान बनी रहे। लगातार अतीत विकृतियों के साथ वह निरन्तर मान्यताओं के बन्धनों से मुक्त होती रहे।

शिवप्रसाद और स्वदेश बहादुर ने कुछ दिनों दिगम्बरों से दीक्षा प्राप्त करके चाहा तो यही था कि कविता को अनावृत करें। मगर उनके लिए 'नग्न सत्य' और 'वास्तविक सत्य' के बीच भेद करना मुश्किल सिद्ध हुआ। वे सहज ढंग से साहित्य से विभोर हो उठे और इसलिए जब बनारस में पीटर ऑर्लोवस्की और गिन्सबर्ग को हिन्दी के कुछ युवा साहित्यिकों ने मंत्री-कवियों की भांति पढ़ते देखा तो एक रूमानी ख्याल से उनका मनोरंजन आलोकित हो उठा। दशाश्वमेध के भिखारियों और मणिकर्णिका घाट के प्रेमिल कापालिकों से लेकर विश्वविद्यालयों और बड़े महाराज तक दौड़ लगाते हुए गिन्सबर्ग का व्यक्तित्व इस बीच उन्हीं कवियों को प्रभावित कर सका जो मूल्यों को स्पष्ट देख पाने की दृष्टि खो चुके थे, या जिन्हें वह दृष्टि नहीं है अथवा आकांक्षाएँ की समझौता परक स्थिति से आगे जिनके विचारों की 'बैरोमीटर' काम नहीं करती। इस स्थिति में हिन्दी में बीटनिक हवा रोमैंटिक अंदाज से आयी, जैसे कि वह और देशों में भी बही और सिर्फ महानगरों के बौद्धिक बैरोमीटरों ने उसका दबाव अंकित किया। लेकिन जैसा कि हर जगह होता है हवा के साथ घूम जाने वाले 'विंड काक' हिन्दी में भी हैं। उन्हें सिर्फ पकड़ना चाहिए। प्रतिक्रिया का यह खोखलापन कुछ मोहरी वाले किशोर और किशोरमना युवकों को, जिन्हें साहित्य से कुछ लेना देना नहीं, बीटल संगीत पर निछावर होते देख साफ तौर से लक्ष्य किया जा सकता है। स्पष्ट है, परम्परा से टूटन और सांस्कृतिक संकट की तीव्र अनुभूति को कुछ बाहरी दिखाने और अनुकरणवृत्ति की वजह से बीट या नाराज स्वयं को बहुत से ढकोसलों से मुक्त नहीं कर सके। उनकी जिज्ञासा शरीर भोग की विकृतियों में प्रगट हुई। वीभत्स स्थितियों में उन्होंने महानगर के संकट को उभारा। हॉरर पैदा किया। विद्रोही पीढ़ी हो, चाहे भूखी पीढ़ी, अभिव्यक्ति के संकट को ईमानदारी से झेलने के बजाय उसने सायास अपनी पसलियों में दर्द पैदा किया—उन पर पंजे उगाये और कविता से ज्यादा उनका प्रचार किया। उत्पलकुमार वसु ने दाढ़ी बढ़ा ली, बसाक ने शीशे में चेहरा देखना छोड़ दिया, प्रदीप चौधरी ने अपने कपड़े उतार दिये और कोई एक कलकत्ते के किसी चौराहे पर ट्राफिक रोकने के लिए बीच सड़क में लेट गया…

"कविता है प्रेम किये बिना। कविता लिखते रहते हैं [illegible] होते पर और भी कविता नहीं उनके की [illegible] [illegible] पर रहना चाहिए।' कविता रोटी नहीं बनाती है।" (कल्पना, अप्रैल, 1965)। दुविधा राजकमल की इन पंक्तियों में जितना विरोधाभास है, इससे राजकमल चौधरी को इनकार नहीं कर सकता। क्योंकि वह भी बहुत कुछ उन्हीं अभि-प्रायों को अपनी रचनाओं में पालता रहा है जो भूखी पीढ़ी की दोनों में प्रचलित रहे। मगर बीटनिकों के ढंग पर, श्रीकान्त वर्मा 'सड़क पर गुजरती हुई तेज कारों के साथ होने की इच्छा' रखते हुए भी (पर मैं निरुत्तर, लहर, जून 1963) दुविधा में डूबता रहा—आखिर मैं यूं भी तो किसे स्वीकार? ... मैं क्या करूँ? क्या मैं जीने की कोशिश में किसी और दुनिया में जा सकूँ?' (एक दिन)। यह मन स्थिति कवियों की हुई। भूखी पीढ़ी को जिन्होंने अपना आदर्श बनाया वे और भी दोहरी मंत्रणा के शिकार हुए। लगता है, मोटे रूप से जिन मुखौटों को गुरुवरों ने देश के अनेक बुद्धि-जीवियों के पास भेजा था अब उन्हें स्वयं लगा लेना चाहिए। क्योंकि "बहुत से हजम पार कर कविता अब स्थिर है" बगाक की इस धारणा में क्या प्रस्थापित होने की तीव्र महत्वाकांक्षा की गंध नहीं है? भूखी पीढ़ी का मनगढ़ा यही आवरण भड़कता जाता है। स्पष्ट है, बगाक के मन्तव्य में संघर्ष के मेरुदण्ड के प्रति स्वत इन्कार की ध्वनि आती है।

अमरिकी आलोचक और गद्य लेखक मोरेन्टीनो से जब बीटनिकों के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया तो उसने कहा—"सभी बीट रोमैन्टिक हैं, अत्यन्त मद्दे रूप में रोमैन्टिक। क्योंकि वे अहम् में पागल हैं ।" बीटनिक कवियों ने बीटम् से यह सीखा कि पाठक को कविता के 'मैं' के प्रति तब तक रुचि नहीं होती जब तक कि वही 'मैं' एक मुखौटे के जरिए प्रस्तुत न किया जाय।...... इसलिए रोमैन्टिकों ने कला को नंगा सौ सौ साल पहले ही कर दिया था। पाउण्ड, विलियम, ईलियट आदि एक जर्जर ढाँचे को तोड़ते रहे। उसी ढाँचे को अर्द्धशती के बाद नयी रोमैन्टिक अदा से बीटनिकों ने फिर से तोड़ा। .... मगर उनका 'मैं' सब भी उन पर हावी रहा जो उनके संस्कारों में पलता रहा। परिणाम यह हुआ कि जिस नयी सभ्यता के विरुद्ध ट्रोम्बोन बजाया गया उसे सभ्यता के साथ एक फैशन परस्ती में बीटनिकों और नाराजों की 'अन्तहीन प्रेम की आत्मिक खोज' (स्प्रीचुअल क्वेस्ट फॉर एण्डलेस लव) समाप्त हो गयी।

हुआ आखिर यही कि नाराज और बीट दोनों शॉक देने की स्थिति में नहीं रहे। प्रतिष्ठा के विविध स्तरों ने उनके आक्रोश को व्यवसाय का लिबास पहना दिया। उनकी अभिव्यंजनाओं से अब पश्चिम में अधिक प्रतिक्रिया नहीं होती। किन्तु यान्त्रिक स्थितियों के सह-संयोजन में जो बीट

...नी बात कहने की क्रमाम ...सम्भावनाओं को पाने का प्रयत्न करते रहे,
...नके लिए ... आकांक्षा की किसी भी गुंजाइश नहीं है। समय के
...न हाथों में उन्हें भी पीछे कर दिया है। जार्ज की मुक्त 'रिद्म' ने संगीत
... बेसुर साबित कर दिया। कविता को बीटनिक और भूखी पीढ़ी मात्र
...ओरन तक ही सीमित रहे रहे। अफ्रीकी जंगलों में फैली जातियों के
...स्वरताल बाजों पर बजनेवाली लाल अमेरिका की धड़कनों में समा गयी।
...यों 'कटू' घुटुरमुता संगवाले बीटल्स की हुलसी-फुलसी धुनों के नजदीक
... आये। सोगलीशी (सितार) की पंक्तियों के अनुकरण पर 'लव मी डू'
'प्लीज, प्लीज मी' या 'आई वान्ट टू होल्ड योर हेन्ड' जैसे 'पॉप हिट'
...र जान, रिंगो, पाल और जार्ज 'नार्वेजियन वुड' में भारतीय सितार तक
...र आये हैं। किशोर-किशोरियों का एक बड़ा समुदाय इस कदर इनके
...ीत पर दीवाना हुआ कि ब्रियान एपस्टीन जैसे दलाल की पच्चीस प्रतिशत
...दनी के बावजूद भी अंग्रेज इंग्लैण्ड को बिटल्स से भारी तादाद में
...शी मुद्रा का लाभ होने लगा। इसी वर्ष बीटल्स के रेकार्डों से पचहत्तर-
...ड़ से ऊपर आमदनी हुई जिसे देख लगता है, व्यावसायिक बुद्धि में घटिया
... को भी एक 'क्रेज' बनाने की क्षमता है। शायद इसी विसंगति को
...ूस गत जान ने एक बार स्पष्ट करना चाहा था कि बीटल क्रान्तिकारी
...हैं, केवल पैसे कमाने वाले विदूषक हैं। नयी सभ्यता के सन्दर्भ में
...बीटनिक-चेष्टाओं और भूखी पीढ़ी के बाहर को भी विदूषक का दर्जा
...जा सकता है ? •••

समकालीन हिन्दी कविता की दिशा

(तीन चौथाई अकविता के सन्दर्भ में एक-एक नोट)

इस लेख के उक्त शीर्षक से फिलहाल मैं अंतिम दो शब्द अलग करके सोचना चाहता हूँ। अर्थात चर्चा के लिए मुझे अपने समक्ष केवल प्रारम्भिक शब्दों की त्रयीसमकालीन हिन्दी कविता—उपयुक्त लगती है।

हिन्दी कविता की समकालीनता को समालोचना के सामान्य स्तर पर समझने की कोशिश में हम एक मर्यादा के वृत्त में चले जाते हैं। मगर उसे रूढ़ सन्दर्भों से तनिक भिन्न मानने पर हमें जो चित्र मिलता है उसमें बहुत कुछ कट जाता है। कविता के इस अवशिष्ट अंश में बहुत कुछ संगत होता है, और जो कट चुका होता है वह निश्चय ही कविता के अन्तर्गत समकालीन स्थिति में व्यर्थ हो चुका हुआ होता है कविता की एक समूची पीढ़ी और उस पीढ़ी का वर्तमान सृजन अपने कथ्य एवं शिल्प के तथाकथित नाविन्य में सन्दर्भहीन साबित होता है।

इस समकालीन कविता के प्रश्न को मैं निश्चय ही गीत और नवगीत की प्रवृत्तियों से असम्बद्ध मान कर सोचना चाहता हूँ। मेरा विश्वास है कि कविता की रचना प्रक्रिया गीत की सृजन-प्रक्रिया से भिन्न होती है। उसके अभिव्यंजित अभिप्राय भी तब अलग होते हैं। गीत को कविता और कविता को गीत कहने की भ्रांति, जैसा कि हम सब जानते हैं, उस वक्त शुरू हुई जब नव-छायावादियों ने अपनी रचनाओं को उत्तर-छायावादियों से अलग घोषित करने के लिये नयी कविता के नाम से सम्बोधित किया। हुआ यह कि नयी कविता की आन्तरिक प्रवृत्ति तो गीत प्रधान ही बनी रही सिर्फ उसका कलेवर बदल गया। कथ्य में जिसे नया कहा गया वह अधिक से अधिक आज के नवगीत में व्यक्त होते हुए कथ्य एवं अभिप्रायों से भिन्न नहीं था। वस्तुतः नवगीत को नयी कविता की परिणति स्वीकार करना एक संगत निष्कर्ष प्रतीत होता है। स्पष्टतः मानसिक भूमिका भी दोनों की एक है और प्रतिष्ठित होने की प्रवृत्ति से दोनों ही बद्ध भी हैं। नयी कविता की प्रतिष्ठित स्थिति को अपने से सम्बद्ध घोषित कर नवगीत, अपनी कल्पित उपलब्धियों से, नयी कविता को, उसमें आयी हुई जड़ता से, उबारना चाहता है, और स्वतः अपने सृजन वैशिष्ट्य को नयी कविता की परिणति बताकर उसमें अपनी सम्पृक्ति के सूत्र और अधिक मजबूत करना चाहता है। स्वार्थजनित नहीं

कविता के हित में उसकी यह परिणति निश्चय ही उपयुक्त है। इससे दो बातो के लिए स्थान हो जाता है : एक तो यह कि समकालीन प्रवृत्तियों के विश्लेषण में आसानी, दूसरे यह कि पाठ्य क्रमो से सम्बद्ध व्यर्थ की असंगत बातो से लदी समालोचना द्वारा फैलाये गये कुहासे से छुटकारा।

इस दृष्टि से छायावाद से प्रभावित और उसकी भाव विह्वल ग्रन्थियो से ग्रस्त कविता का अन्त हमें नयी कविता की नवगीत मे होती हुई परिणति में मिलता है। स्थूल रूप से छायावाद की समाप्ति 'तीसरा सप्तक' के कवियो के साथ ही हो गई थी। विजयदेवनारायण साही की तरह 'पुरानी और नयी पीढ़ी के बीच तने हुए तार की तरह स्थिति' (शम्भुनाथ) इस पीढ़ी के कवियो का तनाव अनिश्चय की खूंटियो पर निरन्तर कसा जाकर अब टूट चुका है। उसी की जर्जर और बासी स्थिति को नवगीत की चर्चा मे बराबर इंगित किया जा रहा है। यों रहने के लिए समकालीन हिन्दी कविता के इस अंश के अन्तर्गत अनेक स्तर की रचनाएं लिखी जा रही हैं और कई पीढियो की कृतियो का इतिहास उसके लिए गौरव का विषय बना हुआ है। उन सभी को साथ लेकर जीना भी उसकी नियति है। सिर्फ कविता के क्षेत्र मे ही यह स्थिति है यह कहना एक पक्षीय होगा। उससे कुछ हटकर देखने पर हमे कई शिक्षा संस्थानो मे जहाँ हिन्दी के प्राध्यापक अधिक हैं, हिन्दी के प्रत्येक काल का प्रतिनिधित्व होता हुआ दिखायी देता है। एक ही स्थान पर आदिकाल के प्रतिनिधित्व के साथ अत्याधुनिक मन की नियतिगत संगति दृष्टिगत होती है। इसलिए उचित यही है कि समकालीन हिन्दी कविता के प्रश्न को मात्र कविता तक ही विस्तार दिया जाये। उसे बहुतेरी चीजो के साथ जोड़कर देखने के बजाय उसे आधुनिक संवेदना के परिपार्श्व मे समझने मे ही सुविधा होगी। एक व्यापक परिधि में उसे चर्चित करने के प्रयत्न मे हम निश्चय ही उसका सही चित्र नही देख पायेंगे और हमारी समूची बहस दिशाहीन हो जायेगी। समकालीनता में संक्रान्त मनःस्थितियों को व्यक्त करने वाली कविताओं मे कई विविधाओ के अतिरिक्त ऐसी कविताएं भी अपना अस्तित्व आरोपित करना चाहेंगी जो मंच पर गाकर सुनायी जाती हैं या वे कविताएं भी उसमें अपना दखल चाहेंगी जिन्हें नयी कविता की उपयुक्त परिणति कहा जा रहा है। 'लहर' के नवगीत (उतरार्द्ध) में वीर सक्सेना ने इस विषय पर अच्छी तरह से विचार किया है। इसमें वे सभी कविताएं भाषा और कथ्य में अलग हो जाती हैं, जो तथाकथित नयी कविता से अपना कोई रिश्ता घोषित नहीं करती, न उसे विरोध के उपयुक्त ही मानती हैं।

अतः इस विषय को मात्र कविता तक ही सीमित मान कर चलना यहाँ उपयुक्त है। दरअसल, हमारी चर्चा का विषय व्यावसायिक पत्रकारिता

के ऐसे वातावरण की उपज है जो पूर्ववर्ती कविता के समय सम्भव नहीं था। एक तो यह कि उस समय लिखने वालों की संख्या कम थी जो लिखते थे उनके लिए गीत और कविता का अन्तर स्पष्ट नहीं था। उनके समक्ष केवल स्थापित होने की महत्वाकाक्षाएं और साहित्य की रूढ़ मान्यताओ से बहुत ही औपचारिक मतभेद की स्थितियाँ थी। नये क्षेत्र खुल रहे थे। हर नयी बात उन्हें अवाक् स्थिति मे डाल रही थी। लिखनेवालो मे अधिकतर लोग कसबो से आये थे और बनारस-इलाहबाद जैसे बडे कसबो की अनुभूतियो को रोमैन्टिक दृष्टि मे देखते थे। उसके समक्ष अपने हित मे उत्तर छायावादी नाविन्य को या नयी कविता को पूर्ववर्ती छायावाद के लिजलिजेपन से औपचारिक रूप मे असम्पृक्त करने या स्वयं को नया सिद्ध करने के लिए तर्क-सम्मत स्थितियाँ सहज ही बन गयी थी। छायावाद का अन्तिम दौर इसलिए अपने एक उत्कृष्ट अंश को समस्त अनुकूलताएं दे सका। देखा जाये तो तथाकथित नयी कविता छायावाद की सफलता है और उसकी उपलब्धि नवगीत की परिणति। पारस्परिक सहयोग भाव जो तथाकथित नयी कविता को मिला, वह उसके अपने की अंश को अब सुलभ नही। नवगीत का यही दुर्भाग्य उसमे उभरती विसंगति का कारण है।

कविता का उसके सृष्टा की जीविका से बडा सम्बन्ध होता है। छायावादी पूर्वार्द्ध के बहुतेरे कवि छोटे स्थानो के अध्यापक या रसिकजन थे या व्यापारी थे, और संस्कारो की जडें उनमे गहराई से जमी हुई थीं। उत्तर छायावादी अधिकतर प्राध्यापक हुए और उनसे लगे हुए नवछायावादी अर्थात तथाकथित नयीकविता के कवियो का व्यवसाय अखबारी से जुडा हुआ रहा। बहुत कम लोग ऐसे रहे जो नगरो मे आकर आक्रान्त हुए, जबकि इस बीच चमत्कार यह हुआ कि प्रगतिशील कविता के बहुत से दावेदार सरकार या सेठो के नौकर हो गये तथा बडे पदो पर पहुँचकर आध्यात्म और परम्परा की बातो मे लग गये। 'तार सप्तक' के वृद्ध नये वक्तव्य इस तरह के व्यक्तित्व का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इस तथ्य मे अपवाद की बात हम छोड सकते हैं, क्योंकि अपवाद प्रतिनिधिक नही होता। किन्तु समकालीन कविता, जिसमें सुविधा के लिए पिछले पाँच छः वर्षों का कृतित्व मिला हुआ है, ऐसे व्यक्तियो के सृजन से बद्ध है जिनके लिए अध्यापन या पत्रकारिता पेशा नही है। बल्कि उनकी वैयक्तिक रुचियाँ भी इस तरह अलग-अलग है कि कविता में आकर उनका स्वरूप साफ तौर पर अपनी पूर्ववर्ती कविता से भिन्न हो जाता है। अधिक स्पष्ट शब्दों मे कहा जाये तो इनमे से कई व्यक्ति साहित्य को सीरियस नही लेते। इसलिए वे कविता मे मन:स्थितियो की कसीदाकारी नहीं करते और न वायवी ढंग का स्वप्न-जगत बुन कर सार्थक मिस्टिसिज्म का

शाब्दिक प्रपंच दिखाते हैं। कविता के इस अलगाव को गलती हुई पीढ़ी यथायक स्वीकार करने की स्थिति में स्वयं को नहीं पाती। कमलेश्वर ने जिस प्रकार 'नईधारा' (फरवरी-मार्च, '६६) के समकालीन कहानी विशेषांक के सम्पादकीय में नई कहानी की व्याख्या हमेशा नयी होती रहने वाली कहानी कहकर की है, कुछ-कुछ उसी ढंग का नकलची तर्क तथाकथित नयी कविता से सम्पृक्त व्यक्ति प्रस्तुत करते हैं और समकालीन कविता में जो एक अलग तरह का तेवर आया है, चाहे उसके कितने ही नाम हों—अगली कविता हो या अस्वीकृत कविता, आज की कविता हो या विद्रोही कविता—कुछ भी हो उसको अपने ही विकास से मिलाने में उन्हें अपने अहम् की रक्षा होती दिखायी देती है। समकालीन हिन्दी कविता को चाहे खींच खांच कर किसी भी पूर्ववर्ती क्रम से जोड़ा जाता रहे, इससे कोई बड़ा फर्क नहीं पड़ता क्योंकि बढ़ने वाला दस्ता रुकता नहीं है।

यह बात निश्चित है कि समकालीन कविता का एक बड़ा वर्ग कविता के स्वीकृत मूल्यों के खिलाफ नजर आता है। अगर श्री गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में कहूँ तो समकालीन कविता 'अस्वीकृति का नवोन्मेष है'—विरोध का रैनासाँ है। यह सम्पूर्ण विरोध स्पष्टतः विसंगतियों की गहरी स्थितियों से जन्मा है। यह विसंगति अकविता में हमें सर्वाधिक मात्रा में मिलती है। क्योंकि इस प्रकृति का अकविता भाव निश्शेष होने वाला नहीं है। इसका एक खंडित क्रम है जो हमारे जीवन में प्रवेश करती हुई योनाग्र वृत्ति में साफ दिखायी देता है।

समकालीन हिन्दी कविता की दिशाएं चाहे कितनी ही व्यापक हों मगर स्थूल रूप से उनकी प्रवृत्तियाँ कविता शब्द के बहुत से स्वीकृत सन्दर्भों की सीमाओं के बाहर नजर आती हैं। इस दृष्टि से कविता शब्द से जो व्यक्त नहीं हो पा रहा है उसे व्यक्त करने के लिए इधर प्रयुक्त कुछ शब्द, जो प्रायः प्रबुद्ध पाठकों की दृष्टि में आते रहे हैं, उनमें से अधिकांश अपने आप में अपर्याप्त हैं। मगर उन सभी शब्दों की थोड़ी बहुत सार्थकता स्वीकार करते हुए भी यह अनुभव किया गया है कि हिन्दी कविता की नयी दिशा के तीन चौथाई अंश को अकविता शब्द के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है।

यहाँ मैं मुद्राराक्षस के एक लेख का जिक्र करना चाहता हूँ। 'नयी कविता कुछ सन्देह' इस शीर्षक से मुद्रा ने आज से दस वर्ष पूर्व पूना से प्रकाशित होने वाले हिन्दी मासिक 'राष्ट्रवाणी' में कई प्रश्नों के साथ एक प्रश्न यह भी उठाया था कि अगर आगामी पीढ़ी की कविता नयी कविता का अस्वीकार करे तो नयी कविता उसे किस ढंग से लेगी ?

नयी कविता ने इसका उत्तर 'अज्ञेय' के शब्दों में दे दिया है :

मैं हूँ ये सब,
ये सब मुझ में जीवित
मेरे कारण अवगत मेरे नेत्र में अस्तित्व प्राप्त

अर्थात यह वही उत्तर हुआ जो छायावादियों ने बहुत पहले नव छायावादियों को दिया था।

मगर अकविता जो कि अब तीन चौथाई समकालीन कविता की दिशा को व्यञ्जित करती है किसी दार्शनिक पैमाने में बंधी हुई नहीं है। उसकी विशेषता इस बात में है कि उसके कवियों कि प्रवृत्तियाँ अलग-अलग मन स्थितियों से जुडी हैं। यह डायवर्सिटी तथाकथित नयी कविता में नहीं थी इसलिए उसमें न आज की कविता जैसा औद्धत्य आ सका, न समाधान का कोई सही रास्ता उसे मिला।

मशीन के बारे में हम भावुक नहीं हो सकते। कविता के सम्बन्ध में अकविता की दृष्टि कुछ इसी तरह की है। कविता शब्दों की छोटी या बडी मशीन है और यह मशीन व्यक्तित्व की सत्ता का उद्घाटन करती है। इस लिए जब समकालीन कविता की दिशाओं का प्रश्न सामने आता है तो कविता के वैविध्य का प्रमुख स्वर पहचान लेना आवश्यक हो जाता है। यह सच है कि मशीन की तरह हमारे भीतर और बाहर बहुत कुछ जटिल है, मगर उसमें काफकायी ढंग की इमेजरी—मुझे लगता है, आरोपित है। उसमें वास्तविक अकविता का सिलसिला नहीं है, क्योंकि उसका वह अंश व्यतीत का उच्छिष्ट है। तीन चौथाई समकालीन कविता का अकविता भाव एक छटपटाहट है, विक्षोभ है—उसे अभिव्यक्ति का संकट कहना पर्याप्त न होगा। बल्कि ऐसा समूचा कृतित्व एक प्रश्न है अपने अस्तित्व की चुनौती को स्वयं ग्रहण करने का। अपनी बात को पाठक तक सीधे पहुँचाने के लिए चुनौती का स्वरूप भाषा के व्याकरण को भी छोडता है। कविता शब्द के सन्दर्भ में यह बात यहाँ फिर हमें कठिनाई में डालती है, क्योंकि इस तरह के सृजन में जो व्यक्ति आसानी अनुभव करते हैं उनके लिए कविता शब्द निश्चय ही बहुत मामूली हो जाता है।

मनस्थितियों की ये परतें, अनुभव की कसौटी पर स्वयं लेखक से बदला लेती हैं। मगर यह संयोग की बात है कि उस बदले का दबाव उसे अपने पूर्ववर्ती काव्य से विद्रोह करने के लिए नहीं उकसाता। विद्रोह भाव इसलिए नहीं आता कि समकालीन कविता का तीन चौथाई अकविता भाव किसी परम्परा से जुडा हुआ नहीं है।

अकविता की मन स्थिति में व्याप्त समकालीन कविता का अंत किसी समाधान की प्रतीक्षा नहीं हो सकता। एक दूसरे के करीब शब्द हम इसलिए

भी है कि हमारी विसंगतियां कटी हुई हैं। औदत्य के तेवर खंडित हैं और बहुतेरा अंश मशीन की आँतों से भी अधिक जटिल है।

इसलिए वैविध्य, जटिलता और कटी हुई विसंगतियों के बीच बाग़ी स्वर अपने आप अकविता की ओर मुखर होता है। यह शब्द समूचे अन्तविरोधों का द्योतक सिद्ध होता है। यह पहले कहा जा चुका है कि अकविता अस्तित्वबोध की चेतना से कतई प्रभावित नहीं, बल्कि यह एक प्रश्न है अपने ही अस्तित्व की चुनौती को सहज स्वीकार करने का।

साहित्य के बहुत से प्रश्नों का एक ही उत्तर है समकालीन कविता का औधत्य। इसमें टूटी हुई दिशाएँ भावों की तलाश नहीं करतीं, बल्कि अपने पाठक से तीखे सवाल करती हैं। विद्यालय के पाठ्य क्रमों में जो पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य है, उसकी दुनिया आज की इस अकविता से अलग है। उसमें आज के पाठक को जो मिलना है वह उसकी जिन्दगी में कतई नहीं होता। अतः अब कविता का सम्बन्ध सीधा उस ज्ञात-अज्ञात पाठक मात्र से है जिससे जाकर कविता टकराती है। यही कारण है कि अकविता के हित में हल्के-फुल्के साप्ताहिक विरोध महत्वहीन लगते हैं। अधिक विनम्र शब्दों में यदि विरोध को महत्ता ही देना आवश्यक है तो मैं ऑडेन के शब्दों का इस्तेमाल करना उपयुक्त समझूँगा : 'आवर फ्रेन्ड्स—आवर एनीमी ऑलवेज नो अस बेटर दैन वी नो ऑवर सेल्फ'।

• • •

परम्परा : अर्थगर्भ मौन : अकविता

किसी प्रवृत्ति का पहला चरण उसके दूसरे चरण मे उसी प्रवृत्ति का विकास है, एवं तीसरा चरण उसका और अधिक विकास या परिणति । अर्थात् जब हम चरण की बात करते हैं तो किसी प्रकार के क्रम को एक सूत्र मे जोड़ना ही हमारा उद्देश्य होता है । श्री गिरिजाकुमार माथुर ने 'मस्वीकृति का नवोन्मेष: तार सप्तक से अकविता तक' (धर्मयुग: ५ जून, १९६६) शीर्षक लेख मे नवकाव्य के अन्तर्गत, जिसमे नयी कविता भी शामिल है, अकविता को 'तीसरे विकास-चरण का प्रारम्भ' कहा है । इसी अकविता को श्री माथुर ने अस्वीकृत कविता की संज्ञा भी दी है । मगर एक निष्पक्ष बात उन्होंने अवश्य कही कि इस तीसरे विकास-चरण की कविता में 'वर्तमान वस्तुबोध की दायित्वपूर्ण अभिव्यक्ति की सम्भावना है' और यह कि इसके 'अन्तःमार्गों के कल्पना जालों मे नयी कविता की प्रवृत्ति जैसा पलायन नहीं है ।'

कविता को विकास-चरणों मे विभाजित करने की इस दृष्टि से, लगता है, श्री माथुर अकविता को नयी कविता से असम्पृक्त नहीं मानते । इसी लेख के प्रथमांश में (२६ मई, '६६), जो बाद मे 'तार सप्तक' के परिवर्द्धित संस्करण मे छपा है, श्री माथुर ने 'आधुनिक बोध का केन्द्र बिन्दु १९३९-४० मे उदित' माना है । उनके ख्याल मे वही बिन्दु अब 'हिन्दी कविता का सम्पूर्ण क्षितिज आच्छादित कर चुका है' (एक विकसित रूप के रूप मे) । यह स्वीकृत भाव मात्र भी आधुनिक काव्य-दिशाओं को [illegible] प्रवृत्तियो के साथ जोड़ने का आग्रह लगता है जिन्हें अकविता की [illegible] पूर्ण आन्दोलन करती है । अकविता की इस दिशा के [illegible] 'अकविता' (अनिश्चयकालीन कविता) के संकलित रचनाओं से [illegible] उस निषेध और अस्वीकृति प्रवृत्ति से है जो अकविता के [illegible] असम्पृक्त है । चरण-शृंखलाओं से [illegible] करने का विरोध, संयोग से, [illegible] [illegible]

मानते हैं तो उनके ख्याल मे आगामी कविता छायावाद से पूरी तरह कट चुकी होनी चाहिए। किन्तु जब वे अपने उसी लेख मे 'नयी कविता के बौद्धिक नवोन्मेष' और उसके अन्तर्कथ्य को 'नव छायावाद' घोषित करते हैं तो क्या उनके अवचेतन में परम्परा की बात नही होती ?

देखा जाये तो परम्परा जैसी सतत प्रक्रिया का कोइ अस्तित्व नही होता। होता है सिर्फ व्यतीतोन्मुखी उपलब्धियों को भविष्य मे जीवित रखने का प्रयास। परम्परा का प्रवाह या विकास-चरण जैसी धारणा महज एक भ्रान्ति से अधिक नही होती। इसलिए साहित्य मे स्थायित्व का प्रश्न एक अव्यक्त आरोपित भाव है। वस्तुतः व्यक्त सातत्य कुछ होता नही। जो होता है वह व्यक्तिपरक उपलब्धियों का खण्डित समूह भाव। व्यक्ति होता है और उसकी कला होती है। उस कला का न अतीत होता है, न भविष्य। उसकी उपादेयता अथवा आस्तित्वगत सार्थकता समकालीन होती है। स्पष्ट है, व्यतीत का समकालीन नही होता। प्रश्न यह है, व्यतीत को जीवित कैसे स्वीकारा जाये ? *'शव साधना' कैसे की जाये ?* विगत होती जा रही प्रवृत्तियां अथवा शिल्प-शैलियां जब स्वयं को व्यतीत मानने से इन्कार करती हैं, तब उनका इन्कार व्यक्ति-सापेक्ष होता है। वह जीने के लिए संघर्ष का प्रच्छन्न प्रयत्न होता है। ऐसा प्रयत्न प्रवृत्ति-प्रधान होता है—अतीत की उपलब्धियो को वर्तमान का गौरव बनाकर उसे भविष्य मे स्थायित्व देने का आग्रह होता है।

अतीत का रूपान्तरित होता हुआ बोध शीघ्र नष्ट नही होता। वर्तमान के एक छोर को वह बड़ी देर तक अपने दांतो से पकड़े रहता है, और वर्तमान उसे कुछ समय के बाद स्वयं झिटक कर छोड़ देता है। स्पष्ट है, अतीत-मोह मनोगत है–तात्विक नही। सार्थक सन्दर्भों के अभाव मे अतीत तेजी से क्षीण होता हुआ लक्ष्य किया जाता है। वर्तमान की सतत प्रवहमान नवीनता मे कविता या कला का जो स्वरूप उभर कर आता है वह परम्परा का विकास नही होता या किसी प्रवृत्ति का विकास-चरण नही होता, बल्कि वह व्यक्ति का अपना तत्व होता है, और वह तत्व व्यक्ति के साथ ही नष्ट हो जाता है (हम दूसरा 'निराला' या 'मुक्तिबोध' नहीं पा सकते)। भविष्य व्यक्ति-तत्व को विकसित नहीं करता, क्योंकि भविष्य का अपना वर्तमान होता है। उसके अपने व्यक्ति होते हैं और व्यक्तियो के अपने निजी तत्व होते हैं। अतीत से उनका वास्ता कट जाता है। इसलिए 'विकास-चरण' की दृष्टि अपने आप में विरोधात्मक है। 'अ' का 'ब' की ओर जाना 'ब' में 'अ' का विकास नहीं। एक से दूसरे की ओर बढ़ने की क्रिया में एक दूसरे से स्वतः छूट जाता है। यह विच्छेद सातत्य नहीं हो सकता। इसलिए परम्परा का प्रश्न या विकास-चरण

की सार्थकता एक निराधार प्रतीति है—वह एक ऐसी मनोवृत्ति है जिसका जन्म उस सामन्ती कल्पना में हुआ जिसने सन्तति को निठल्ला होकर बैठे का यौवन भोगने दिया।

क्या फर्क पड़ता है अगर आज की कविता पर बहस करते समय उत्तर छायावादी एवं 'नव छायावादी' (नयी कविता में सम्बद्ध) के कवियों की चर्चा ही न की जाये ? बार-बार प्रयुक्त किये गये पूर्ववर्ती उद्धरणों को आज के सन्दर्भ में याद करने का मोह क्या अतीत से सटे रहने का सबूत नहीं ? आलोचना के क्षेत्र में 'फ्लैशबैक' से वर्तमान को सम्बद्ध करने की पद्धति अतीत की बैसाखियों को अगल-बगल लेकर चलने की प्रवृत्ति है। इसी अतीत से अनुरक्त होकर नयी कविता का टूटा हुआ व्यक्तित्व वर्तमान की रफ्तार को छूने की बेचनी दिखाता है। दस-पन्द्रह वर्ष पुरानी नयी कविता में वह अकविता या अस्वीकृत काव्य मन स्थिति के उद्धरण खोजता है। प्रयत्नज ऐसे अनेक उद्धरण उसमे भी पहले की कविता मे प्राप्त किये जा सकते हैं। काव्य-भाषा और शिल्प का फर्क है, भाव-स्तर पर महादेवी और कान्ता की अनुभूति का आयाम क्या एक जैसा नही लगता ? इस तरह के कई सह-सन्दर्भ प्रमाणस्वरूप उपलब्ध करना कठिन नही होता।

दरअसल अतीत मे हम 'रिलैक्स' करते हैं, जीते नही। जैसे थके होने के बावजूद आनन्द के लिए हम नेपोलियन की कोई फिल्म देख आयें या किसी पुरानी कृति को कुतूहल के लिए पढ लें। वक्त हुआ तो कुतुब चले जायें या कमरे मे बैठकर 'शेक्सपर-एक जीवनी' के कुछ पृष्ठ उलट डालें, ब्रेख्त के अतियथार्थवाद पर मित्रों के बीच चर्चा करलें, या किसी चित्र-गॅलरी मे प्रदर्शित पुराने पेंटिंग देख आयें। मगर तेजी से व्यतीत होते हुए वर्तमान मे हमें इस स्तर के मनोरंजन के लिए बहुत कम समय मिलता है। व्यक्ति जहाँ वर्तमान से तादात्म्य नही जोड पाता, वहाँ वह पीछे देखता है। उसकी गर्दन पर कॉलर के करीब एक फाँस उग आती है और पैर 'रीवर्स गियर' मे आ जाते हैं। अतीत उसे रस देता है—'इतिहास रस' जो वर्तमान से असम्पृक्त करता है। शास्त्रीय संगीतज्ञों या घरानेदार उस्तादों मे यह रस भाव बहुत अधिक होता है। उन्हे इस बात मे बड़ा सुख मिलता है कि उनके दादा या परदादा अमुक नवाब या राजा के दरबारी थे। टूटते हुए मूल्यों के समक्ष इस 'रस' का आश्रय हीन भाव से अधिक क्या होगा ?

अकविता का लेखक इस सन्दर्भ मे यदि महत्वाकांक्षा का शिकार होता है कि भविष्य मे उसे प्रस्थापित माना जायेगा, या वह यह समझता है कि उसका कृतित्व किसी ऐसी प्रवृत्ति को जन्म दे रहा है या देगा जो किसी महत्वपूर्ण आन्दोलन के रूप मे आगामी काव्य-प्रवृत्तियों के लिए सन्दर्भ-विषय

बन सकेगा, तो निश्चय ही वह उस पीड़ा को अपने में पाल रहा होता है जिससे नयी कविता के बहुत से कवि ग्रस्त हैं (-शायद कल किसी के कंधों पर चढ़कर मेरा बौना अहम् विवश हाथ फैलाये)। उसके भीतर परम्परा का कोई अंश ग्रन्थि बनकर कसमसा रहा होता है। उसमें वही सम्पाती के दम्भ का भविष्य में संवर्द्धित होते रहने का खतरा है जिसका संकेत धर्मवीर भारती ने पकती हुई पीढ़ी के सन्दर्भ में किया है :

> कौन हैं ये समुद्र-विजय के दावेदार
> कह दो इनसे कि अब यह सब बेकार है
> साहस जो करना था कब का कर चुका मैं
> ये क्यों कोलाहल कर शांति भंग करते हैं ......
>
> [सम्पाती : कल्पना-१११]

अतः जब अकविता की बात उठी है, तो कुछ बातो को स्पष्ट समझ लेना होगा : अकविता कालधर्मी कविता है। वह सीमित समय की कविता होगी, क्योंकि उसे भविष्य मे झंडे नही गाड़ना होगा। यह सच है कि आनेवाली कविता के लिए उसे आज की कई परतो वाली पीढ़ियो की विरोध-स्थितियो से गुजरना होगा, जिसके लिए उसे भविष्य मे अपने प्रयत्नों की दुहायी देने की आवश्यकता नही पड़ेगी।

परिवर्त्य काव्य स्थितियो से व्यतीत द्वारा स्वयं को समय-समय पर सम्पृक्त किये जाने की तत्परता एक औदार्य भाव है—अस्वीकृति काव्य-भाव नहीं। ऐसे औदार्य की अनुभूति अकविता के लिए असम्भाव्य नही होगी। क्योंकि अकविता मे अभिव्यक्ति के अनेक स्तर सम्भव हैं। भाषा और कथ्य मे वह प्रतिबद्ध नही है, इसलिए 'फ्लेक्जीबल' है। उसमें जटिल और 'टिप्पी' प्रक्रियाएँ है—सीधी और टूटी हुई बातें हैं। उसकी संचेतना मे ऐसे बिम्ब सम्भव हैं जो 'नवछायावादी' कविता (नयी कविता) के कुछ मुहावरो के करीब हो सकते हैं, मगर उन्हें अकविता की वास्तविक प्रक्रिया का प्रभाव नही माना जा सकता। व्यतीत काव्य मे भी संयोगवश आज के भटके सन्दर्भ मिलना असम्भव नही जो निश्चय ही उस काव्य की मूल प्रवृत्तियों से अलग होते हैं।

अकविता संवेद्य काव्य नहीं है। क्षणानुभूतिपरक आक्रोश उसका स्वभाव नही हो सकता। लघु क्षणो मे नयी कविता की धन रियलिटि क्यों भुलावे में रही। अकविता की प्रक्रिया संशोर्य जगत के उस भुलावे से बच गयी है। उसकी व्यंजना का स्तर अब साधारण तर्क से ऊपर है। बल्कि स्वतः अपनी बात को अकविता 'साउंडिंग बोर्ड'—मनोगत संकेतों से

व्यक्त करती है या करेगी पर उसकी 'औपचारिक शैली' ओछी और विवेक शून्य नहीं होगी। शब्दों के 'अर्थगर्भ मौन' के प्रश्न पर अकविता शायद 'अज्ञेय' से कुछ सहमत हो सके, मगर इस हद तक जाना शायद उसे मान्य न होगा कि कविता में 'मौन द्वारा भी संप्रेषण हो सकता है' या 'कविता शब्दों के बीच नीरवता में होगी' (धर्मयुग, २१ अगस्त, १९६६)। उस स्थिति में शब्दों के बीच नीरवता का काव्य 'किसी की किसी पर' अभिव्यक्ति कैसे होगा, जिसका आग्रह 'अज्ञेय' ने 'तार सप्तक' के नये वक्तव्य में किया है। ... मगर अकविता की अभिव्यक्ति अपने कथ्य को प्रकाशन के लिए अवश्य प्रयोजनीय मानती है। उसके प्रति व्यर्थ का विनम्र प्रदर्शन उसमें नहीं।•••

अ (-आस्थावान) गीत और कंधों पर पड़ी हुई राहें

इधर स्वातंत्र्योत्तर नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में गीत की बात फिर उठायी गई है। छंदमुक्त रचनाओं को 'जो भाषा के विस्तार में न जाकर आंतरिक रूप से अनुभूति के एक बिम्ब को व्यक्त करती हैं' (गिरिजाकुमार माथुर) नये गीत-काव्य की कोटि में परिगणित किया जा रहा है। आग्रह है कि गीत को उसकी परम्परागत जड़ता और शैली से मुक्त करना। यदि गीत की 'परिभाषा' और उसके 'केन्द्र बिन्दु' से बदलने पर ही एक ऐसे की सम्भावना हो सकती है तो प्रश्न यह है कि उस गीत का स्वरूप क्या होगा? श्री माथुर 'स्वच्छन्द मुक्तक शैली' की रचनाओं को गीत मानते हुए भी उसमें 'स्वानुभूति के साथ, परिवर्तित सौन्दर्यबोध और मूल्यगत स्तर पर बदलती हुई संवेदना' की अपेक्षा करते हैं। गीत 'अंतर्मुखी' होने पर आधुनिक होगा, इस मान्यता के समानान्तर ही उन्हें ठाकुरप्रसादसिंह के संथाल-संस्कारी गीतों की 'मूल दृष्टि' आधुनिक प्रतीत होती है। अपने विचारों को शब्दों के आभा-मंडल से आवृत करने पर विश्लेषण की दिशा प्रायः स्पष्ट नहीं रह पाती। 'अभिव्यक्ति लय' का आभास स्थान-स्थान पर जिस रचना में मिलता हो उसे गीत या 'शुद्ध गीत' कहना और कुछ कविताओं की मुक्त शैली को गीत के नवीन संस्कार के रूप में महत्ता देना, वस्तुतः दो भिन्न तथ्यों के ऊपर सेतु बाँधने का प्रयत्न है। अपने नवप्रकाशित 'नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ' ग्रन्थ के सातवें निबन्ध में गिरिजाकुमार माथुर स्पष्टतः नये लिखे गये गीतों को नयी कविता के अविच्छिन्न अंग स्वीकार करते हैं (पृ० १२६)। अपरोक्षतः इस तर्क का सन्दर्भ वही है जो नवगीत और नया गीत के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है और उसे नयी कविता की गौरवपूर्ण परिणति मानकर उसके सभी रचयिता अपनी 'गोचरी आधुनिकता' के प्रति आश्वस्त अनुभव कर रहे हैं। नयी कविता की लयात्मक क्षमता का एक मात्र द्योतक एवं पूरक है नया गीत। वैचारिक दृष्टि से एक पक्ष नवगीत को 'कविता के नये धरातल की खोज' मानता है। 'जो कुछ व्यक्त करने मे नयी कविता की विधा को चुका हुआ अनुभव किया जा रहा है—या जो कथ्य नयी कविता नहीं दे पा रही, उसे नवगीत के माध्यम से अभिव्यक्ति दी जा रही है।' इस संगति से 'नवगीत' नयी कविता का 'विस्तार नहीं' बल्कि उसके समानान्तर, 'काव्य शृंखला की अगली कड़ी' (लहर : कवितांक—उत्तरार्द्ध,६७ : वीर

राजीव सक्सेना ने अपनी कविताओं के अद्यतन-प्रकाशित संकलन 'आत्म-निर्वासन'—में स्वयं को नयी कविता के दायरे के बाहर बताया है एवं जिस के इन्द्रिय की प्रक्रिया को उस खेल की नाटकीयता से सम्बद्ध अनुभव किया है जिसमे 'मंच पर दृश्य परिवर्तन के बीच कहीं जो अंधकार आता है' और जिसका दर्शक हाल में होते हुए भी उस अँधेरे में होने वाले परिवर्तन को स्पष्ट नहीं कर पाता। किन्तु कविता की स्थिति में अलक्ष्य एकालाप के अंश में उसकी निरावरण दृष्टव्य है, क्योंकि 'छपी हुई कविता संगीत से दूर हो गई है।' संगीत अथवा लय के इस विमोह के कारण राजीव अपनी कविताओं को गीत कहना पसन्द करता है। उनमे आदिम कविता वाला जादुई तत्व (?) पैदा करने की अदम्य कामनावश, निरर्थक, दूषित रूप में कविताओं के प्रकाशित होने के कारण ('शायद' शब्द के साथ) उन्हें 'एण्टी गीत' कहना भी वह उपयुक्त समझता है। 'शायद' शब्द ही राजीव के पक्ष में उसे और आरोपों से बचा लेता है।

विलियम कार्लोस विलियम ने कविता को मशीन कहा है। मशीन का अपना संगीत होता है। प्रश्न यह है राजीव को जिस गीत शब्द से मोह है उस गीत का स्वरूप यदि परम्पराश्रित है और उसका संगीत यदि प्राचीन विषयक साहित्यालोचन में चर्चित ध्वनि-मर्यादाओं से सचरित होता है, तो उसका आदिम पक्ष क्या होगा ? आदिम संगीत सीमित स्वरों का अनघढ संगीत है। उससे आबद्ध गीत (जो वस्तुत साहित्य-सम्मत व्याख्या के अनुसार गीत नही होते) ईमानदार अभिव्यक्ति हैं। जहाँ तक गीत लिखने का सम्बन्ध है जगदीश चतुर्वेदी और कैलाश वाजपेयी ने भी गीत लिखे हैं, रेडियो के लिए बहुत से नयी कविता वालो ने गायी जाने वाली बंदिशें रची हैं। व्यक्तिगत रूप से आदिम जीवन और उसके अनघढ संगीत के बहुत करीब होना अलग बात है। लेकिन उस संगीत को जो लोग मानसिक रूप से भोगते रहे हैं यदि उनकी गीत रचनाओ को विश्लेषित किया जाय तो तथ्यो के वैचारिक आधार हमे निराश ही अधिक करेंगे। कथनी और करनी का अंतर समूचे तथ्यो की उपस्थिति मे स्पष्ट हो जाता है। फिर भी तथ्यो के एक बड़े अंश के ठीक विपरीत 'एण्टी' की परिकल्पना बुरी नहीं हो

सकती । राजीव का 'एण्टी' होना स्वाभाविक है। जानकारी के लिए कुछ स्थूल तथ्य हमें अवश्य शार्कपित करते हैं। नयी कविता के कवि प्रकृतिपरक वातावरण एवं 'पेस्टोरल नास्टोल्जिया' से बाहर आने के लिए छटपटाते रहे हैं। आरम्भ में कई प्रतिष्ठित कवियों ने अपने शोध प्रबन्धों के लिए जिन विषयों को चुना वे लोकपरक साहित्य विधाओं एवं मध्यकालीन प्रेम मार्गीय प्रबन्धों से सम्बन्धित रहे। भारती ने 'सिद्ध साहित्य' के माध्यम से अपने नायिन्य को उपलब्ध किया। कई समकालीन कवियों की प्रारम्भिक रुचि संत साहित्य में रही। अध्ययन के हित में इस रुझान की प्रतिक्रिया, अन्वेषण एवं प्रबुद्ध चेतना-की भित्ती पर अनुचित नहीं हुई। तथाकथित नयी कविता की उपलब्धियों में गीत का जो अंश अवशिष्ट है वही उसकी प्रेरणा का केन्द्र बिन्दु है। उसे अब एक वास्तविक आयाम प्राप्त होने लगा है। 'आत्मनिर्वासित' की प्रथम टिप्पणी में राजीव का आग्रह है कि (श्री माथुर भी जिसका अनुमोदन करते हैं) 'गीत नामक विधा को आधुनिक संवेदनशीलता से सम्पृक्त किया जाना चाहिए' (पृ० १०१)। इस प्रश्न को बीटल्स भी हल नहीं कर सके। एक पुरानी सज्जा को नया रूप प्रदान करने जैसा यह प्रयास मनोरंजन के लिए उपादेय सिद्ध हो सकता है। मगर आदिम कविताओं-सा जादूई तत्व शायद (मुझे भी इस स्थिति में 'शायद' शब्द का ही उपयोग करना उचित होगा) कविता को अकविता के नजदीक ले आये। इसमें केवल समग्र विक्षेप अपेक्षित है, विस्तार या क्रमागत विराम नहीं। अतएव तर्क की द्विधात्मक स्थिति में श्री माथुर का नयी कविताओं को एक लीक से जोड़ना शायद वैसा ही है जैसे राजीव का अपनी कविताओं को 'एण्टी गीत' सम्बोधित करना। यह ऐसा ही एक सवाल है जिसमें कविता को 'पासटाइम' या मशीन कह देना। मैं अपनी बहुत-सी रचनाओं को अकविता कहता हूँ और शेष कई पंक्तियों के समुच्चय को 'कोलाज'। अकविता शब्द पारिभाषिक संज्ञा के रूप में नयी कविता, गीत और नवगीत जैसे उद्‌बोधनों के अन्तर्गत लिखी जा रही समानधर्मा रचनाओं से भिन्न एक मात्र अलग स्तर की रचनाओं के लिए अब प्रयुक्त किया जा रहा है। 'अ' की संगति इस माने में मात्र अस्वीकार की नहीं रह जाती है। उसमें निषेध का आरोप कविता का तिरस्कार नहीं है। निषेध के मूल सामाजिक अधिक हैं जो कथ्य, भाषा एवं भ्रामक परिवृत्तों में पूर्वग्रही अभिप्रायों और वामी उपकरणों से मुक्ति के प्रयत्न मात्र हैं।

इसमें से गीत अपना संगीत खो देता है, यह विषय अलग से विचार करने योग्य है। ध्वनि संकेतों में भी हम संगीत को लिखते हैं। मगर राजीव का गीत मात्र शायद कविता के स्तर पर एक अलग अर्थवत्ता

को समाहित किये है, और जब वह अपनी रचना को 'एण्टी गीत' कहता है और कविता के सामाजिक दायित्व का स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं को नवमविप्लववादी (नियो पयूचरिष्ट) मानता है, तो अप्रत्यक्ष रूप में वह अपने कृतित्व में व्यक्त होते हुए अकविता भाव को ही वहीं स्वीकार करता है। प्रकट है, 'आत्म निर्वासन' की अनेक कविताओं और कविताओं की आंतरिक प्रक्रिया अकविता की ओर उन्मुख है। गीत और अकविता की प्रक्रियाएं यहाँ दो अलग दिशाओं और मानसिक दृष्टि से विभिन्न प्रेक्ष्य कोणों से सम्बन्धित हैं। प्रक्रियाओं के दो भिन्न आधार हमारी विधाओं के अंतर और बाह्य दोनों को समान नहीं रहने देते। गीत का अपना अस्तित्व है। अकविता उसे विनष्ट नहीं मानती। किन्तु, यह स्पष्ट अनुभव किया गया कि उसकी आंतरिक प्रेरणा अद्युनातन चेतना को पकड़ पाने में कमजोर सिद्ध हुई। नयी कविता और गीत का सामंजस्य उसकी इसी असमर्थता का द्योतक है। वह बीच की स्थिति में रही, किसी वस्तु सत्य को नहीं पा सकी.

> असल में मेरे कन्धे दुख रहे हैं
> और असल में मैं एक खम्भे से दूसरे खम्भे तक
> अपने हिस्से का आसमान
> ढोते-ढोते थक गया हूँ।
> [केदारनाथ सिंह : एक हत्याकाण्ड की स्मृति में]

वही पहुँच पाने की इच्छा में नयी कविता को एक पुल की तलाश रही। हत्याकाण्ड की रोशनी में भी उसे जंगली चिड़ियों का व्याकरण सीखने की आवश्यकता अनुभव हुई जिसकी परिणति परमानन्द श्रीवास्तव के 'खलनायक' भी हो गयी

> कविता कल तक जिनके लिए
> कवच थी
> आज तक दर है .. .

अनुभूति के दायरे शहर में अब भी पुराने घर, पोखर और गुड़िया की कामना करते हैं। कोलाहल और मशहद में लथपथ होकर नयी कविता का अवाक् मन अपने को एक छोटे बच्चे-सा शहर की ओर अनाथ निहार लेने में सन्तुष्ट प्राप्त करता है। अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति के रूप में एकमुख होकर भी सुबहों में आवृत रही रहती है—कहती है, शहर के घेरे गंदे-गंदे, व्यथा-व्यथा, शोर-शोर, अर्थहीन-शब्दहीन दोस्ती-दुश्मनी, सुख और दुख जैसे यह-विन्यास जो जिस दिशा में लगातार रहता चल रहे हैं वह नयी कविता की मात्र एक परिवर्तित संवेदनशील अनुभूति है, उसके

अधिक नही। इसे चाहे उपलब्धि कहने से किसी को सन्तोष होता है त किसी भी चिन्तक को आपत्ति नही होनी चाहिए। नयी कविता के लिए सिर्फ यही बचा है।

साहित्य जिसका व्यवसाय है उसके लिए साहित्य से निर्वासन कठिन होता है। प्रतिबद्धताएँ उसके कृतित्व को बौद्धिक मर्यादाओं की चुम्बकीय आस्थाओं में प्रश्रय देती है। इस कोटि की भावभूमि का सृजन बहुतेरी कुंठाओं से ग्रस्त होता है। अतीत की उपलब्धियाँ उन्हें और भी गहरी बना देती हैं : घिसे हुए रिकार्ड मे पडी किसी खरोंच मे उनके कृतित्व की सुई 'ट्रैकबेक' करती रहती है। उसका पता सिर्फ उन्हे चलता है जो उस स्तर की प्रतिबद्ध यशाकांक्षाओ और उन्हे उदात्त करनेवाली पारस्परिक-सद्भावी संयोजनाओ से अलग हैं। राजीव के लिए साहित्य कभी पेशा नही रहा। उसने साहित्य से ईमानदारी का सम्बन्ध रखा और निष्ठा से निभाया। साहित्य से उसका 'स्वेच्छित निर्वासन,' लगता है, उसकी ताजगी का ही रहस्य है। यह निर्वासन मुद्राराक्षस का समूची काव्य-प्रक्रिया और परम्परा सम्मत साहित्य व्यवस्था से वाक आउट नही, बल्कि एक संघर्ष है जिसे व्यवस्था के बीच रहकर एक संगति दी जाती है। निर्वासन की यही प्रतीति उसके भावी सृजन की वास्तविक भूमिका है। मैं इस आंतरिक प्रक्रिया को सृजन के हित मे आवश्यक मानता हूँ, क्योकि प्रक्रिया का आधार—स्वेच्छित निर्वासन—परिस्थितियो द्वारा दिया हुआ अवसर है जो सतत लेखन-प्रक्रिया की एकरसता से लेखक को मुक्त रखता है। राजीव के साथी इस अवसर को भोग नही पाये, अधिक लिखकर भी वे पिछड गये। निर्वासन का सही प्रभाव राजीव ने अपनी कविताओ में पाया। उनके द्वारा उसने एक बड़े अभाव की पूर्ति कर दी .....

विसंगतियो की सामाजिक स्थितियों मे आत्मनिर्वासन एक ग्रस्त चीख नही है, व्यक्ति परक निर्णयो की सांकेतिक कविता है। राजीव की कविता मे प्रश्न हैं (खोटे सिक्के को सार्थकता दूँ भी तो कैसे दूँ ? लोग भीड़ क्यो हैं, जुलूस क्यो नही बन जाते ?), सामाजिक शंकाएँ हैं (उनके देशभक्ति की बातें बघारते ही मुझको लगता है/वे अभी छुरा भोक देंगे, अथवा 'डाक्टर खुद अपना इलाज कर रहे हैं/मुझे जिन्दा ही मुर्दाघर में छोड़कर') उपचार के अवरोधो के लिए प्रतिप्रश्न हैं और मित्रों की कविताओ के सम्बन्ध मे वक्तव्य हैं :

मेरे मित्र, नग्नता पर कविताएँ लिख सकते हो,
भोग नही सकते, सब स्त्रीलिगों-पुल्लिगो के
द्वारों पर भारत सुरक्षा का ताला जड़ दिया गया है,

माहवारी खाते ये मारे दिवालिया हैं तुम्हारे,
मैं मानसिक मैथुन में विश्वास नहीं करता ।

[आत्मनिर्वासन, पृ० १५]

मगर वक्तव्य परक कविता अथवा कविता में यत्र-तत्र आने वाली वाक्यपंक्तियों में कविता का अंश कितना होता है ? ऐसी बात जो सहज गद्य में अधिक साफगोई से व्यञ्जित होती है, कविता के बाह्य रूप में उसका उपयोग अथवा कवि की ओर से उसका आरोप एक प्रश्न उपस्थित करता है । यह प्रश्न केवल राजीव सक्सेना की कुछ कविताओं, खासकर 'आत्मनिर्वासन' के उत्तरार्द्ध तक ही सीमित नहीं, उनसे इतर हिन्दी की भी कविताओं के सम्बन्ध में उतना ही उल्लेखनीय है । कैलाश वाजपेयी जब निजी विद्रूप—तिक्तता को सीधे-सीधे व्यक्त करने लगता है तो उसका अंदाज वक्तव्य के निकट होता है और कविता आरोपित रूप में दर्शन की किसी अव्यक्त प्रतिक्रिया का स्पर्श करती जान पड़ती है :

देह में देह बनानेवाली देह की तलाश ये
सारा बवेला · ·

[शल्य-चिकित्सा]

दुनिया निकलती है एक सूराग से
हाथ पैर मारकर
अहसास करके
मिट जाती है एक दिन मुट्ठी राख में

[शल्य-चिकित्सा]

आज की कविता में प्रायः बहुतेरे अभिप्राय गली और सड़कों के शोर, नदी, सम्भोगी आग, आवारा औद्धत्य, फैशन परक नगर सन्दर्भ, धुआँ और बंद कमरों की घुटन, सर्प-सन्दर्भ, हत्या, मृत्यु यंत्रणा, जिज्ञासा चित्रों और वस्तु-स्थितियों के कई आम प्रसंगों में आवर्तित होते रहते हैं । कुछ कविताएँ ऐसी लगती है मानो कहानी की कुछ पंक्तियों को तोड़कर कविता के रूप में रख दी गयी हो । भीतर कहीं राजनयिक वक्तव्यों का प्रभाव होता है एवं स्थितियों को एक कवि की तरह अनुभव न कर पाने के अभाव में कहानी के ढंग की अभिव्यंजना अत्यन्त सरल होती है । उदाहरण के रूप में निम्न कविता की आरम्भिक आठ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

गली लेटी है कब से
जहाँ हजारों प्यासे पद-चिह्न
गुजर गये हैं एक दूसरे को कुचलते हुए
मार खाया एक कुत्ता पड़ा रहता है

ं

जो यों ही रह रह कर भूँकता है
और यों ही चुप हो जाता है
एक बिजली का खम्भा गाड़ गया है कोई
जिसका बल्ब अक्सर टूटा रहता है
[रामदरश मिश्र : गलियाँ और सड़कें]

ये पंक्तियां कुल मिलाकर एक चित्र-स्थिति की द्योतक हैं, कविता नहीं है ? हिन्दी कहानियां कई ऐसे चित्र प्रस्तुत करती हैं, सिर्फ उन्हें तोड़कर मुक्त शैली मे विभाजित करने से उक्त पंक्तियों के ढंग की तथाकथित कविताएँ सहज बन सकती हैं ।

राजीव सक्सेना की कविताओं मे एक जगह मुक्तिबोध का 'ब्रह्मराक्षस' अतीत से प्रगट और भविष्य मे ओझल होती हुई सीढ़ियों पर आकर वर्तमान को प्रश्नों के बीच अकेला छोड़ देता है (कलेण्डर के पृष्ठ वर्तमान को बाँधेंगे कहाँ) । इसलिए दो छोरों के बीच की स्थिति राजीव के आत्म निर्वासन का कृतित्व है :

हर शून्य पूर्ण है अनगिनत अभावों से
रूपातुर सम्भव्यों से । हाँ एक ना है,
और ना एक हाँ है, जिनका योगफल
हाँ-ना दोनों नहीं है । ठहरे हुए क्षण हैं
एक बेचैन गति का विशिष्ट रूप । (पृ० २२)

व्यक्तित्व के भीतर सम्भावनाएँ जन्मती हैं । आस्तित्ववादी दर्शन पर आज हमारी आस्थाएँ ठहरती नहीं । निषेध की नियति आत्म-रक्षा के लिए है । राजीव का अनुभव है कि 'काल एक सुविधा का नाम है/हमारी गति का, काल कोई नहीं, हम हैं ।' और इसी तरह के वचनों का-सा प्रभाव राजीव की कविताओं मे बहुत जगह है । उसकी चेतना तनाव-शून्य स्थितियों को पाने के लिए व्यग्र है । यह स्वास्थ्य का लक्षण है । यही बात अकविता के एक अंश को छूती है, क्योंकि अकविता मे जो तिक्तता है वह सामाजिक विसंगतियों से पलायन नहीं, कामू का स्वप्न-जगत नहीं, सार्त्र का अस्तित्ववादी दर्शन नहीं, बल्कि वह ऐसी प्रतिक्रिया है जिसे व्यवस्था को प्रभावित करनेवाली 'अर्थ' गर्वी पीढ़ियाँ इसलिए बनाए रखती हैं कि प्रबुद्ध चेतना उनके संगठित षड्यन्त्रों के बीच दरारें न डाल पायें । व्यवस्था का हित इसी में है कि कविता, सिर्फ कविता ही क्यों, अन्य कला-विधाएँ भी, आभिजात्यवादी भित्ति पर उद्भूत वैचित्र्य एवं अधुनातन नखरेबाजियों की ओर आकृष्ट रहें । चेतना के बतौर समाज का एक प्रबुद्ध अंश कलाओं मे कुछ ऐसा ही अवश्य शोध करता रहे और उसमे यह तत्व नहीं पा सके, जिससे [illegible]

पर व्यवस्था के एक बड़े अंग को करने आहत होने का मामला है। फैशन, सौन्दर्य प्रतियोगिताएँ, कलाविधियों में व्याप्त रंगबाजी आदि सभी व्यक्ति की टूटन को प्रमाणित करते हैं। उनके पीछे व्यावसायिक षड्यन्त्र का पता नहीं चलता। केवल व्यक्तित्व जो इसे समझ पा रहे हैं, वे संख्या में कम हैं और उन्हें अपनी बात कहने के लिए साधन प्राप्त नहीं है। उनके लिए अस्तित्व की यह लड़ाई इस माने में व्यक्तिवादी है, एकाकी है, खंडित है। इस दृष्टि से कृतित्व के एक अंग का मुखस्वर 'एण्टी गीत' परक है, कविता से बाहर है—अकविता परक है। मूल्यहीनता एवं असंगीतात्मकता उसके विक्षोभ के कारण बने हैं। कुछ दिनों पहले पिकासो के एक वक्तव्य में इस वास्तव्य का संकेत हमें मिल चुका है।

'आत्मनिर्वासन' में एक वास्तविक गीत (एक सिलहुट का गीत) और तीन कमजोर कविताओं—नाजारस, पुष्प प्रिया का गीत, और मुक्ति गीत—को छोड़कर शेष रचनाओं के पीछे वर्गसंघर्ष का चिन्तन है। तथ्यों में गुम्फित आक्रोश की संयत राहों की तलाश है। कई अभिप्राय गीतात्मक मिजाज के होते हुए भी भाषा के स्तर पर कथ्य में तेज और सामाजिक सन्दर्भ से बद्ध हैं। सभी सन्दर्भ इतिहास की रगों को छूते हैं, आध्यात्म की धुंध को चीरते हैं और राजनयिक खोखलेपन का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। कविता जब एक सतह से अलग होती है और विश्वास का तकाजा समस्त विसंगतियों और बिखरावों के ऊपर उठता है तो राजीव सक्सेना इस निष्कर्ष पर पहुँचता है जो शायद सभी को मान्य न हो

> इतिहास के अनुभव से गुजर कर मैंने देख लिया
> आगे समता के उपवन हैं [पृ०—६६]

'परिवेश के प्रति निष्क्रियता हमारा धर्म नहीं है, सक्रियता हमारा सहज स्वभाव है' (टिप्पणी, पृ० ६८)। तटस्थ-विक्षोभ से बाहर इस आशावादी स्वर में एक संकट भी होता है जो परिवेश से ही उत्पन्न होकर हमें रोमैन्टिक दृष्टि देता है। यह दृष्टि समाज-सापेक्ष होती है। वर्तमान परिवेश के साथ निर्माण को जीना सक्रिय दृष्टि है, किन्तु अतीत के अविश्वासी अहसास को व्यक्ति कहाँ तक अनुभव करता रहे? आवश्यक है कि उसे एक सवार की तरह हमारा स्वभाव उसे सदैव सन्दर्भ देता ही रहे?

यह सच है कि कविता की पूर्ववर्ती स्थिति निष्क्रियता की है जिसमें मध्ययुगीन रोमान्स और प्रकृतिपरक आवर्तित मोह पलता रहा है। वर्तमान स्थिति की सक्रियता राजीव की रोमैन्टिकता नहीं है। उसका अन्तस्तोष एक शालीन विद्रोह है—बेचैनी है और प्रतीक्षातुर सन्तुलन है। 'आत्म निर्वासन'

की नयी कविताएँ इस बात को पूर्णतः प्रमाणित करती हैं। अपने शब्द चातुर्य से वह चौंकाना नहीं चाहता। घृणा ने हमारी कविता को बहुत ढँक दिया है। व्यक्ति स्तर पर यह घृणा कविता में फूटती है, तब लगता है, राजीव वक्तव्य का सहारा ले रहा है। 'राहे चलती रही' संयोग से कविता कम और वक्तव्य अधिक है। राजीव इस विवक्षा को संयत आक्रोश और संघर्ष के सामाजिक पक्ष दोनों को ही अपने समक्ष रखकर अतीत और भविष्य की ओर देखता है। फिर उसे अपने कंधों पर पड़ी परम्परा की बाँहों का अहसास होते ही वह यकायक स्वयं को वर्तमान विसंगतियों के मध्य पाता है। उसका कहना है कि 'आधुनिकता एक विशिष्ट बोध है जो समसामयिक जीवन की सार्वभौमिक चेतना के साथ भविष्य में चरण रखे खड़ा है।' उसके लिए वर्तमान व्यर्थ हो जाता है। नगरबोध उसे एक घिसा पिटा नारा लगता है जिसने अपना अस्तित्व खो दिया है। उसके प्रतिमान रूढ़ हो गये हैं। उसके विषय जड़ हैं। उसका बाह्य चौंकाने वाली उक्तियों की पकड़ में अब नहीं आता। वह एक पुनरावृत्त होते हुए अभिप्रायों में जी रहा है। जहाँ तक समूची सभ्यता के रिश्ते की बात है, हमारी चेतना केवल नगर में ही व्याप्त नहीं, नगर के बाहर भी है। मगर आधुनिकता और महानगर (?) जो इसमें अब हैं भी और नहीं भी हैं, ऐसी त्रासदी हैं जो दोनों में वस्तुत. नहीं हैं :

> कहाँ नहीं है मोर्चा
> कहाँ हो तुम
> तुम्हारे हाथ कौन से हैं ऐ दोस्त
> मेरे हाथ स्वीकारो
>
> [मेरे हाथ स्वीकारो, पृ० ७६]

सन्दर्भ सामग्री : १. आत्म-निर्वासन तथा अन्य कविताएँ—राजीव सक्सेना (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली); २. नयी कविता सीमाएँ और सम्भावनाएँ—गिरिजाकुमार माथुर (अक्षर प्रकाशन, दिल्ली) १९६६ तथा ३. 'लहर' (अजमेर) ॥ कवितांक १९६७।

बाहर निकलने की छटपटाहट''' कविता

काल-खण्ड में साहित्य की प्रवृत्तियों को विश्लेषित करते हुए हम दशकों और अर्द्ध-दशकों तक आ गए हैं। मानो समय के छोटे-छोटे परिवृत्तों में साहित्य की प्रायोगिक स्थितियों के परिवर्तित होते हुए रूपों को पाठक के हित में अंकित करना आवश्यक हुआ हो, और यदि ऐसा उचित समझा भी गया, तो उसे व्यक्त करने का दायित्व उन्हें ही लेना पड़ा, जिन्हें इस प्रकार का पार्थक्य किसी विशिष्ट स्तर या समवेत व्यक्तित्वाकांक्षा के पक्ष में आवश्यक प्रतीत हुआ। 'तार सप्तक' के नए संस्करण में अज्ञेय की एक कविता है, जिसकी शुरुआत इस तरह होती है—'दूर दूर दूर .. मैं वहाँ हूँ।' स्पष्ट है, इस पंक्ति की अर्थगर्भ-ध्वनि वर्तमान से विच्छिन्न है। 'अज्ञेय' सचमुच कहाँ है ? या उनका 'वहाँ' किस जगह स्थित है, उसकी खोज करने की आवश्यकता अब केवल अनुसंधित्सुओं का काम रह गया है, कविता के पाठक या सर्जनधर्मा व्यक्तियों का नहीं।

काल-खण्डों की बात चली है, तो राजकमल चौधरी की लम्बी कविता, 'मुक्तिप्रसंग' क्रम-विच्छिन्न रचना-प्रयास में अपने समय के दो विभाजित अन्तरालों को जोड़ने वाला एक सेतु है। 'मुक्तिप्रसंग' के प्रारम्भ में 'अज्ञेय' के एक पत्र का अंश छापा गया है। उसकी दो पंक्तियाँ हैं 'मृत्यु का स्वीकार एक गहरी आवश्यकता है। स्वीकार के बाद मृत्यु को हटाकर एक ओर रख दिया जा सकता है, और जीया जा सकता है।' निश्चय ही 'अज्ञेय' ने एक प्रौढ़ बात कही है, जिसे बिना लम्बी आयु के अनुभव नहीं किया जा सकता। यह बात साधारण व्यक्ति की अनुभूति को यकायक स्पर्श नहीं करती, बल्कि लेखक ही इसकी संचेतना को महसूस कर सकते हैं। आज की तीव्र गत्यात्मक समय-व्यवस्था में शायद लेखक के लिए अनुभूति के इस महत्वपूर्ण पक्ष का संकेत उपलब्ध करने के लिये प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं। उसे पकने के लिए आयु के अन्तरालों से अधिक गुजरना जरूरी नहीं लगता। उसे यह सब अल्पावधि में सुलभ है, वह कम उम्र में जो भोग लेता है और तेजी से अनुभूति की कई स्थितियों से गुजरने के बाद जो प्राप्त करता है, उसे, प्रकट है, पूर्ववर्ती पीढ़ी ने निश्चय ही धीमी गति से सरकने वाले समय की लम्बी अवधि में उपलब्ध किया है। अतः अनुभूति की ईमानदारी अब उम्र से इतनी बद्ध नहीं होती जितनी समय की गत्यात्मक सापेक्ष स्थितियों से सम्पृक्त होती है। आज व्यक्ति जल्दी

टूटता है, जल्दी बिखरता है, विसंगतियों की भीड मे चलता है और खंडित होकर मुश्किल से जुड़ता है और उस जुडने के क्रम मे उसे बहुत कम विश्वास होता है, *अर्थात् दशको और अर्द्ध-दशको में बंटा हुआ समय अनिश्चय की* स्थितियो का समय होता है। इसलिए वह मृत्युबोध को बार-बार अपने भीतर आवृत्त करता है और जीने के उपक्रम में थोडा विश्वास जुटता है। 'मैं अपने अतीत मे राजकमल चौधरी नही था' ('मुक्ति-प्रसंग' की भूमिका) —इस वाक्य मे क्या नए व्यक्ति के रूप में जीवेच्छा का मोह नही ? आखिर राजकमल के व्यतीत और वर्तमान मे फासला ही कितना है ! मगर समय के इस विभाजित रिश्ते मे जब परम्परा के सम्बन्ध सूत्रो की बात उठाई जाती है, तो 'कथनी' और 'करनी' में समझौते की भूमिका खंडित नजर *आती है। औघड़ो और सोमियों की परम्परा में बीट और क्षुधितो की* अधिकांश रचनाओं को अंधी गलियों मे ले जाने की कोशिश मे सातवें दशक का मध्यान्तर भी नही हुआ था कि राजकमल को असली स्थिति का अहसास हो गया :

देह की राजनीति से विकट सन्निकट और कोई
राजनीति नही है संजय !
अन्न और अफीम की राजनीति यहाँ मे शुरु होती है
—(मुक्तिप्रसंग पृ० १८)

सुरक्षा के मोह में ही सबसे पहले मरता है आदमी
अपने शरीर के ईर्दगिर्द
—(मुक्तिप्रसंग, पृष्ठ ३१)

हिन्दी मे लम्बी कविताओ के लिए मुक्तिबोध को बहुत बदनाम किया गया। उनकी ओर हिन्दी के 'दरोगाओ' (यह शब्द मुक्तिबोध ने आलोचको के लिए प्रयुक्त किया है) की सहानुभूति उस वक्त गई, जब उनकी काव्य संरचना का समय उन्हें तोड़कर अस्पताल मे ले आया और फिर अस्पताल ने सिर्फ कविता के ही बिम्ब नही दिए, लम्बी कविताओं के लिए समुचित भूमिकाएं भी प्रदान की। इधर 'मुक्तिप्रसंग' की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। श्रीराम शुक्ल ने चौंकानेवाले शीर्षक के अन्तर्गत एक लम्बी 'अस्वीकृत कविता' आन्दोलनों के अतियथार्थवाद से 'स्वचालित लेखन' मे संस्थापित घोषित करते हुए लिख डाली। शुक्ल ने अपनी इस कविता (मरी हुई औरत के साथ संभोग) को कवि-द्वारा लिखी गई नहीं, बल्कि 'अन्तश्चेतना' द्वारा लिखी गई कविता बताया है। यह 'अन्तश्चेतना' वस्तुतः कैसी है, जो कवि की समूची संरचना के मध्य पैदा किए जानेवाले सायास 'रेलीरियम' के पैटर्न के लिए पूर्ण चेतन स्पर्शी

है। [illegible], [illegible] और [illegible] की [illegible] स्थिति में [illegible] का [illegible] है। [illegible] और [illegible] को [illegible] का [illegible] हुए [illegible] का [illegible] है [illegible] और [illegible] कविता नहीं [illegible], कविता का [illegible] करते हैं और उस [illegible] के बीच [illegible] करना [illegible] है कि [illegible] कविता है।...'

लम्बी कविताओं के सन्दर्भ में इधर फैशन के तौर लिखी गई कुछ कविताओं का ध्यान आता है, जिनमें अस्पताल-सम्बन्ध शायद एक या दो कविताएँ हैं - विष्णु चन्द्र शर्मा की 'आवाज-निर्वासन' और दूधनाथ सिंह की 'अगली कविता'। मगर मुक्तिबोध ने लम्बी कविताएँ लिखकर कम-से-कम एक बात स्पष्ट समझा दी कि लम्बी कविता में 'फैन्टेसी' का स्वप्रधान है। उसकी प्रक्रिया 'विकल्प' की प्रक्रिया है, अर्थात् उस विधा में व्यक्ति गद्य के अधिक करीब होता है और औपन्यासिक शिल्प से मुक्त नहीं होता। अगर साफ कहूँ, तो लम्बी कविताएँ अवदानों की वर्णन-शैली और परिकल्पना में उनके स्वभाव के अनुकूल होती हैं। अच्छे कहानीकार के लिए लम्बी कविता मुश्किल चीज नहीं। 'मलेय' के लिए 'अगाहर बीणा' या दर्शन उनकी गद्य-सरचना की प्रतिभा के कारण ही विचारणीय बन सका। मुक्तिबोध स्वयं को उपन्यासों में ही व्यक्त करना चाहते थे। छोटी कविता का शिल्प उनके लिए अधूरा शिल्प रहा है। बड़ी कविता में धीरे-धीरे काम करते रहने की गुजाइश होती है। उन्हें 'अनेक क्रमबद्ध गद्यचित्रों में' प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके खयाल में 'सच्चा लेखक अपने खुद का दुश्मन होता है।' आज की कविता में व्याप्त अशान्त दुश्मनी स्वयं कवि के भीतर की ओर अधिक वार करती है। उसका बाह्य आक्रमण सिर्फ औद्धत्य का सूचक है।

अतः अस्पताल की बात पर पुन आते हुए कहना होगा कि इधर की कुछ कविताओं में भोगी हुई स्थितियों की सतही प्रतिक्रियाएँ अधिक लक्षित होती हैं। कुछ तो निश्चय ही आरोपित हैं—फैशन के रूप में व्यंजित। मुक्तिबोध को पुन. उद्धृत किया जाए, तो 'बहुरूपिया' शायद पुराना हो गया है, लेकिन उसकी कला इन दिनों अत्यन्त परिष्कृत होकर चमक उठी है। सप्तक फेम के भारत भूषण अग्रवाल को महानगर की अनुभूति अस्पताल के रोगी-सी प्रतीत हुई और कविता की स्थिति पर उन्हें लगा :

अब कविता अस्पताल में पड़ी कराह रही है
मैं उसकी जान बचाने के लिए खून दे रहा हूँ

दरअसल, कविता को अब वृद्ध खून की आवश्यकता नहीं। नए सन्दर्भों से सायास जुड़ते रहने में भी जो खतरा है, वह छिछली रोमैण्टिकता का आरोपित आभास है। *उसका ओढ़ा हुआ अहसास व्यक्ति का 'परिवेश* के प्रति पुंसत्वहीन समर्पण' में होता है। राजीव सक्सेना ने इस बात को लक्ष्य किया है कि हिन्दी के अधिकांश कवि गाँव या छोटे कस्बे के वासी हैं और उन्होंने नगर को जिस रूप मे देखा, वह एक विडम्बनात्मक आधुनिकता का पर्याय बन गया। अत. आधुनिकता के आधृत पक्ष व्यक्ति की निजी, साधनात्मक मन:स्थितियों के साथ बनते-बिगड़ते गए हैं। कई मान्यताएँ किस रूप में आधुनिक हैं अथवा अनाधुनिक नहीं हैं इसे कहने मे सन्देह की सम्भावना बहुतो को महसूस होती रहती है। एक आधुनिकता वह है जो प्रायोगिक स्थितियों मे विधाओ को वैचित्र्य की ओर ले गई और जिसे दिमागी एवं अतलातल मन स्थितियो की पर्तों से सम्बद्ध किया गया। आधुनिकता के इस पक्ष मे प्रबुद्ध वर्ग को एक बड़े प्रबुद्ध वर्ग ने वास्तविक समस्याओ से विमुख कर दिया। लगता है, इसमें कहीं उच्चस्तरीय षडयन्त्र गुम्फित है। *बुद्धिवादी वर्ग का जो बडा अंश इस भ्रांति का शिकार होकर* अपनी पराजित स्थिति मे सुख लेने लगा है, उसके साहित्य की प्रयोजनीय महत्ता क्षीण हो गई है। आधुनिकता को यदि नवीनतम सन्दर्भ दिया जा सके और उसे व्यक्ति-सापेक्ष सामाजिक सम्बन्धो की ओर मोड़ा जा सके, तो कदाचित् कविता को सही माने मे अकविता की दिशा ही दी जा सकती है। आधुनिकता के प्रचलित बिम्ब और सन्दर्भों में *व्यंजित लम्बी कविताओं का* सिलसिला राजीव सक्सेना के संग्रह 'आत्म-निर्वासन तथा अन्य कविताएँ' मे कुछ परिवर्तित हुआ सा जान पड़ा। उन्हे अभी गीत के जादू से मुक्ति नहीं मिली। इसलिए वास्तविक आधुनिकता के जन्म की प्रतीक्षा मे सक्सेना ने उस जादू की आन्तरिक प्रतीति को 'ऐन्टी गीत' कहा है। यह असंतुलित प्रतिक्रिया है और शायद सही विश्लेषण नहीं है, बल्कि आरोपित आत्म-निर्वासन है। राजीव सक्सेना अपनी पीढ़ी को 'अनेक कवितावादी' पीढ़ी मानते हैं, जिसमें बहुत-कुछ है, 'वायरस' है, 'ऐंटी-बॉयोटिक्स' है, रोगग्रस्त घाव हैं, अस्पतालों की गंध है, डाक्टर हैं, नर्सों की पिण्डलियाँ हैं, जाँघें हैं, मवाद है..........मगर इन सारी 'अन्यथावादी' अछूती सम्पृक्ति से सक्सेना की पीढ़ी अलग है :

.... और मरीज सदा भोगता है
स्वस्थ देह के लिए गेह के लिए

छोटी पत्रिकाओं में जो साहित्य छपता है उसके प्रति प्रायः वयस्कों का ध्यान नहीं जाता। कई उसे पढ़कर भूल जाते हैं, क्योंकि उनके सन्दर्भ व्यावसायिक पत्रिकाओं के सन्दर्भ नहीं होते। क्या दृष्टि और व्यापार में अब किसी सन्तुलन की जरुरत आ पड़ी है? यह सच है कि एक बड़ा वर्ग व्यापारिक स्थितियों की विसंगति में खुश है, मगर उसकी खुशी क्या आदमी की असली खुशी है? सुदूर मध्यप्रदेश से इधर कुछ समय तक एक साइक्लोस्टाइल पत्रिका 'संप्रेषण' प्रकाशित होती रही है। उसके एक अंक में घोषित किया गया है कि 'आज की पीढ़ी सिर्फ तीन मिनट के अल्प समय में अपना सम्पूर्ण जीवन भोगने के लिए अभिशप्त है।' क्योंकि हम इमारत के बाहर निकल जाना चाहते हैं। 'बाहर निकलने की छटपटाहट हमारी प्रतिबद्धता है ...वरना पहले ही मिनट में हम समवेत हत्या कर लेते.......।'

"मगर अनिश्चितता के बीच जीता हुआ आज का आदमी जीवन में प्रतिक्रियाएँ तलाशता रहता है। वह आत्महत्या के अतित्व को एक ट्राम के टिकट से अधिक महत्व नहीं देता।" (हर्ष संक्रान्त २)

इस क्रम में समूची अनिश्चितता, संत्रास, अर्थहीनता और शब्दों के नए बल खाए हुए अर्थों में कुमारेन्द्र पारस नाथ सिंह की एक बात द्रष्टव्य है. 'हमारा जिन्दा रहना इस बात पर निर्भर करता है कि हम कितने सभ्य और सुसंस्कृत हैं, वह इस बात पर निर्भर करता है कि बाजार में बिकनेवाली वस्तु बनने में हम कहाँ तक इन्कार करते हैं।' शायद इन्कार करने की क्षमता बिकनेवाली वस्तु में नहीं होती, क्योंकि 'कैक्टस से तुलसी की ओर लौटने में उसे आसानी होती है।'

. किन्तु कैक्टस की प्रवृत्ति मरीजों से भरे अस्पतालों की ओर आकृष्ट होते हुए हिन्दी-कविता में आजकल 'कहीं बहुत अन्दर' सिर्फ नसों में ही क्यों गूँजती है? और मुद्राराक्षस को केवल शब्दों की बजाय ध्वनियों में ही अकविता क्यों नजर आती है? शास्त्रीय संगीत में तराना जैसी क्या ऐसी ध्वनियों के रूप में कविता की आयामकता नहीं हो सकती? ध्वनियों का छपने से क्या सम्बन्ध? अगर सिर्फ अहसास की बात है तो कविता में उसकी भाषा की सौमित्र मोहन की यह पंक्ति क्या एक खास बिम्ब की ध्वनि से परिचित नहीं कराती :

गुमनाम हरापन कितनी बार परत बदल गया
देने के लिए अन्तर्विदा .. ..

तो वस्तुस्थिति यह है कि मन को पहचानने के लिए मनोविज्ञान की स्वीकृत मान्यताएँ व्यर्थ हो चुकी हैं :

बरसों तक साथ साथ रहने के बाद
एक सुबह स्वयं को
सहसा पिशाचों के चित्र में पाना

केदार नाथ सिंह की इन पंक्तियों में बद्ध मन स्थिति ठीक वही है, जो राम दरश मिश्र को 'लाशों के बीच जीवित होने की पीड़ा' में अनुभव हुई, यह जानते हुए कि 'कुर्सियों पर, तख्तों पर मुर्दे बिछे हैं' या 'पाँव रास्तों में लट्ठे से गड़े हुए थरथराते हैं' और 'कठघरों में हर काली छाया के साथ भगवान खड़ा किया जाता है।' तब अगर कुमारेन्द्र पारस नाथ सिंह एकदम खालिस गद्य में कविता की शुरुआत यों करें...... "एक निहायत वेहूदे आदमी हो तुम । मेरे मुँह पर इस तरह न बका करो। चुप रहो, चुप रहने में ही खैरियत है.....।"—तो शिकायत के लिए क्या स्थान शेष रह जाता है ?

विक्षुब्ध होने का यह भी एक अन्दाज है। प्रश्न स्थितियों को ग्रहण करने का है। मुद्राराक्षस को इन सबमें कुछ भी नयापन नजर नहीं आता। उसे अकविताओं और अकहानियों में ज्यादातर कविताएँ किशोरी नायिकाओं के बारे में लिखी गई प्रतीत हुई। ऐसी शिकायतें पकी बुद्धिवालों को सदा से होती रही है। उनके लिए यह स्वाभाविक भी है। मगर उनका क्या किया जाए, जो कविता को व्यवसाय का लिबास पहनाते और व्यवसाय से जुड़कर प्रकाशन-व्यवस्थाओं द्वारा उन्हें प्रचारित करते हैं। पुरातन लेखन भी इस व्यवस्था में अत्याधुनिक करार दिया जा सकता है। बताया भी जाता है कि आधुनिकता का आयु के पुरानेपन से सम्बन्ध नहीं होता। "बसों में चलते-फिरते स्पर्श अकस्मात् त्वचाओं पर सरकते हैं और स्टैण्ड पर उतरकर खो जाते हैं .।"—(राम दरश मिश्र : एक और दिन)

"एक अपरिचित भीड़ और फिर भीड़ का अपना स्वभाव, अपनी दूरी, अपना नैकट्य और इन तमाम घटनाओं के बीच एक घिसा हुआ रिकार्ड" (राम दरश मिश्र)।

मगर सच तो यह है कि ईमानदार अभिव्यक्ति मुश्किल चीज है। शकुन्त माथुर की कविता 'एक घूमता हुआ रिकार्ड' को मैं इन सबसे विशिष्ट कहूँगा, इसलिए कि उन्होंने अपनी बात को बिना व्यर्थ के शब्द जालों में व्यक्त किया :

सुनो,
मैंने गयी
रेशमी उम्र पर
बहुत ही गरम प्रेस
रख दी है.........

इस अधुनातन अंदाज मे शकुन्त माथुर को अपने हाथो मे 'कच्चे मसाले की गंध' महसूस नही हुई। ये सब बातें हमारी विडम्बनाओ की सूचक हैं... .... ।

....मगर नए मन वाली पीढी को सबसे बडी शिकायत इतिहास से है, क्योकि वह मानती है कि उसकी अपनी कोई पीढी नही। 'पीढियाँ होती हैं इन्सानो की।' इतिहास की टूटी सीढी पर विलुप्त होती हुई पीढी बैठी है। उसकी अनुपयोगिता वर्तमान लेखन मे प्राय आवश्यकता से अधिक आक्रोश को जन्म देती है। ऐसा आक्रोश अपनी समग्रता मे कभी-कभी आरोपित होता है। उसमे 'संतुलित विक्षोभ' से सम्पृक्त आक्रोश का ज्यादातर अभाव होता है। इसे कैशोर्य-परक कच्चापन कह सकते हैं। सचमुच 'सन्तुलित विक्षोभ' और कैशोर्यपरक करुणा विगलित अवस्था से ऊपर होकर नए मन को इस दिशा मे बहुत कहना है, क्योकि आज की कविता मे बाहर निकलने की गहरी छटपटाहट निश्चय ही अनुलंघनीय नही है। •••

घायल दिशाओं में टूटे हुए आकाश की तलाश···

[सन् १९६५ में प्रकाशित कविता-संग्रहों के सन्दर्भ मे एक नोट]

१९६५ की समाप्ति पर जबकि 'अज्ञेय' अपने बाईस वर्ष पूर्व 'तारसप्तक' मे प्रकाशित वक्तव्य मे से कुछ भी वापस लेना आवश्यक नही समझते तथा उसे काव्य का चिरन्तन प्रश्न माने बैठे हैं (ज्ञानपीठ पत्रिका, दिसम्बर,१९६५), और जबकि स्थितियाँ पूर्ववत नहीं रहीं हैं, तब कविता के विघटित मूल्यो पर बुद्धि-जीवियो द्वारा आधुनिकता के सन्दर्भ में पर्याप्त दायित्व-पूर्ण चर्चाएँ अवश्य कुछ मानी रखती हैं। 'तारसप्तक' के ही एक विशिष्ट कवि नेमिचन्द्र जैन 'सप्तकों' के पुनर्मूल्यांकन के प्रश्न पर जबकि स्वयं 'अज्ञेय' को एक प्रकाशक से अधिक हैसियत नही देते (ज्ञानपीठ पत्रिका, नवम्बर,१९६५) तथा 'नयीकविता' के '१९६०-६१' वाले अंक मे डॉ० जगदीश गुप्त द्वारा नकारी गई 'अज्ञेय' के 'चरण-चिह्नों की अनुवर्तिनी' को 'प्रारम्भ' में आकर पुनः एक अर्थवत्ता दी गई है, तब बाईस वर्ष पूर्व की मान्यताओं के दुराग्रह मे अर्थवान शब्द-संवेदनाओ की क्या सार्थकता रह जाती है? इसी वर्ष नयी कविता मे आगे की स्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया तथा 'महान के गम्भीर की अपेक्षा लघु की अगम्भीर गम्भीरता को अधिक श्रेयकर मानने का आग्रह' सामने आया। इसी सिलसिले मे 'ताजी कविता' के अर्थ मे 'इन्वालव्ड क्रियाशील उदासीनता' तथा 'आज की संवेदना मे शरारत पूर्ण राह-संयोजन की आवश्यकता' एवं शब्द और अर्थ दोनो के विलुप्त होने की स्थिति मे कविता के लिए भाषा के रूढ आभा-मण्डल से इतर 'नंगी भाषा' की उपादेयता के प्रश्न पर्याप्त उचित ढंग से उठाये गये हैं (देखिए लक्ष्मीकांत वर्मा का लेख, क-ख-ग, जुलाई, १९६५)। प्रकट है, वर्तमान परिस्थितियो के द्वंद्वमय सम्बन्धों मे आज का कवि स्वय को निराधृत एवं अपनी अन्तरंग अनुभूतियो और जिज्ञासाओ के समाधान के लिए विज्ञान के वृत्त भी अपर्याप्त महसूस करता है। उसकी काव्याभिव्यक्ति ऊँचाई से फेंके गये जल की तरह विकेन्द्रित हो जाती है। जोर से मारे गये मिट्टी के ढेले की तरह बिखरकर वह एक ऐसी अपरूपता ग्रहण कर लेती है कि यकायक उसका समूचा बाह्य 'एब्सर्ड' लगता है। लेकिन यह एक सचाई होती है और इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। क्योंकि ऐसी मन.स्थिति एक प्रकार का जटिलताओ से किया जाने वाला युद्ध हैं। कविता इस संघर्ष में, वस्तुत. नये अयामों की तलाश में, शब्दो की महत्त्वपूर्ण सत्ता से परे चली जाती है। तब निश्चय ही एक की अर्थवत्ता दूसरे के लिए निरर्थक होती है; क्योंकि

युग-सापेक्ष प्रश्न और उनका उत्तर आवाज उठाने में असमर्थ होते हैं। कविता यहाँ नयी दिशाओं में विर्सजित आधारों की खोज में अत्यधिक दिग्भ्रमित हो उठती है। स्थिति के संतोलन में उसका भटक जाना भी सम्भाव्य है। भटकाव की यह स्थिति इन वर्षों की कुछ कविताओं में यत्र-तत्र देखी भी गयी—भूखी पीढ़ी की औघड़ अनुकृति में अकविता द्वार स्थापित करने की चेष्टा में, 'नकेनवाद' की भूमि में संक्रमित, 'विचारकमोरवाद' की घोषणा में। संदर्भ प्रयत्नों के अन्तर्गत अकविता का आग्रह भी इसी वर्ष उन दिनों प्रखर हुआ जबकि हिन्दी के वरिष्ठ कवियों ने मृत्यु-काव्य की आवश्यकता को समर्थन स्वर में उद्घोषित किया और शीघ्र ही अपनी घोषणा के अन्तर्द्वन्द्वों को नये कवियों के हाथों पराभव होते हुए भी देखा। सारा, भिन्न और वस्तु मनों की घायल दिशाओं में व्याप्त आकाश की बुद्धि-संगत शोध एवं परिवर्तित जीवन मूल्यों के मध्य लक्षित सत्यात्मक आस्थाओं के प्रति सर्व पूर्ण चर्चाओं के इस संधिवर्ष के समाप्त होते-होते मेरे बुकशेल्फ में लगभग चौदह कविता संग्रह तथा उन्चालीस कवियों का एक छोटा संकलन-'लय 1' एकत्र हो गये। समीक्षा की दृष्टि से (गीत संग्रहों को छोड़कर) इन संग्रहों की कविताएँ कुछ प्रवृत्तियों, आत्म-प्रवंचनाओं और कुंठाओं के विवेचनार्थ अपर्याप्त नहीं लगती।

पौराणिक आस्था एवं मृत्यु-भय से उबरने की व्याकुलता :

मृत्यु को बन्दी बनाने वाले यूनानी दंतकथाओं के सिसिफस को कामू ने दो दशक पूर्व एक नया सन्दर्भ दिया था। पौराणिक प्रतीकों को आधुनिकता की रौ में मध्ययुगीन वृत्ति से सम्बद्ध मानने वालों के लिए यह एक करारी चोट थी। क्योंकि कामू ने 'दि एब्सर्ड हीरो' के रूप में सिसिफस को बीसवीं शताब्दी की अनास्थाओं के बीच निरर्थकता के द्योतक नायक के अर्थ में प्रतिष्ठित किया। सिसिफस की यंत्रणा, वर्तमान व्यक्ति-संघर्ष का प्रतीक समझी गयी। चूँकि वह निरर्थकता के सन्दर्भ में उभर कर आयी थी, इसलिए सार्थकता के ख्याल से कवि 'बच्चन' की नजर में एक भारतीय प्रतीक अर्थवान हो उठा—हनुमान के रूप में, जिसमें कि उन्हें नये ओज का अनुभव हुआ। दोनों प्रतीकों में साम्य मात्र चट्टान उठाने का है जिसे सिसिफस और हनुमान दोनों उठाते हैं। एक उसे निरन्तर ढोता है और दूसरा उसे उठाकर सार्थकता को अर्थ प्रदान करता है। दोनों प्रतीकों के निमित्त 'दो चट्टानें तथा अन्य कविताएँ' संकलन में 'सिसिफस वरक्स हनुमान' शीर्षक लम्बी कविता में 'बच्चन' अपने को 'विचारों की प्रच्छन्न धारा—जो पूर्व-पश्चिम सबको लगभग एक ही तरह भिगोती है'—से प्रभावित पाते हैं। लेकिन, जैसाकि 'बच्चन'जी के साथ अक्सर होता है, आधुनिक अभिव्यंजनाओं में उनके 'अचेतन अवस्था में पड़े संस्कार प्रबल हो उठते हैं' और कविता में

पुराने रंग भरने लगते है। यह कविता अवश्य ही एक अच्छी रचना साबित होती यदि संस्कारों की जकड से 'बच्चन' मुक्त रह पाते। वर्णन को विस्तार न देकर मात्र वैचारिक संपुंजन को काव्यपरक केन्द्रीय-संवेग दिया गया होता तो प्रतीकों की शक्ति मे अधिक गहराई आ जाती (मुझे इस सम्बन्ध में, संयोगवश, कुमार विकल की 'सिसिफस से' शीर्षक कविता का स्मरण हो आता है)। आवश्यक नही था, कविता मे यह बताया जाना कि सिसिफस कहाँ पैदा हुआ, उसका पिता अथवा चचिया ससुर कौन था अथवा यह बताया जाना कि उसकी सगाई एटलस की कन्या से हुई थी। मुख्य प्रश्न था, सिसिफस के सन्मुख, मृत्यु का :

> मृत्यु सबसे बड़ा छल है
> और सबसे बडी छलना
> क्या न उसके जाल से सम्भव निकलना ?
>
> (दो चट्टानें · पृ० १८६)

सिसिफस ने इसी मृत्यु को बन्दी बनाकर एक समस्या खडी कर दी। मरण मे रस का आभास पाने वालो को जीवन के सहज और स्वस्थ नैरन्तर्य मे अखरने वाला व्यतिक्रम अनुभव हुआ। रुकी हुई जिन्दगी की यंत्रणा कष्ट साध्य लगी। इसी हरकत के कारण सिसिफस को प्लूटो द्वारा दण्ड का भागी बनना पड़ा—'संगमरमर की बडी चट्टान को वह ठेलकर ले जाय गिरि के शृंग धुर पर/ और जब पहुँचे वहाँ पर लुढकती नीचे गिरे वह /सिसिफस फिर उसे ले जाय ऊपर' (पृ०१९१)। उसकी इस सतत यंत्रणा की व्यर्थता को 'बच्चन' ने हनुमान के प्रतीक मे ठीक उल्था पाया। कविता की समन्विति इन शब्दो मे की गई :

> अपने युग मे
> अहम् जगा, फूला, फैला
> हमने कम देखा ?
> काश उसे संयत कर सकती
> हनुमान के आत्म दमन की
> लक्ष्मण रेखा।
>
> (पृ० २१४)

इस उपसंहार को 'बच्चन' इसलिए पा सके कि उनके संस्कारों विश्वासो मे भक्ति सर्वोपरि रही (जैसी हनुमान के हृदय में राम के प्रति थी)। सम्पूर्ण कविता डिमाई साइज के चौत्बन पृष्ठों मे फैली है, और 'आत्मजयी' जैसे संयत कृतित्व का स्पर्श सम्भव होता तो उसे उत्कृष्ट काव्य के रूप मे उपयुक्त विस्तार भी दिया जा सकता था। तब शायद कामू के

'एक्शन हीरो' को पछाड़ कर 'दशन' हनुमान के प्रतीक के साथ उचित प्यार कर सकते थे।

सार्थकता का प्रश्न बहुत कुछ उपलब्धियों के नैरन्तर्य से सम्बद्ध है। इस अर्थ में कि उन्हें कालातीत प्रतिष्ठा मिलती रहे। लेकिन मूल्यों की टूटन में आस्थाएँ खण्डित हो जाती हैं, और तब मृत्यु-भय कवि की सृजन-क्षमता को ग्रसने लगता है।

> देह जर्जर है
> साँसें जोर पर है,
> कभी उसने, कभी मैंने
> नारायण का नाम लिया
> कभी मैंने, कभी उसने
> समय को कोसा
> (दो रात पृ० ११८)
>
> अब किसी से या किसी भी तरह की
> सच, है नहीं मुझको शिकायत
> (अमास, पृ० १२३)

इस प्रश्न पर काव्योचित चिन्तन कुँवरनारायण की कृति 'आत्मजयी' है। दर्शन से हटकर भी जो दर्शन से मुक्त नहीं, काव्यपरक होकर भी जो चिन्तन से शून्य नहीं है। समयोचित सन्दर्भों को एक सीमा तक यह कृति अपेक्षित ऊँचाई देती है। इस कारण 'आत्मजयी' इस वर्ष के संग्रहों में ही नहीं, बल्कि पिछले दो-तीन वर्षों के संकलनों में अपने ढंग की कृति है। विशिष्ट है, इसलिए कि इसका सौन्दर्य विघटित और दमित नहीं—पुरा-कथा से प्रेरित होकर भी पौराणिक दिव्यता से ग्रस्त नहीं है। 'आत्मजयी', जैसाकि स्पष्ट किया है, कठोपनिषद् के नचिकेता के 'अस्थिबोध' की समस्या का काव्यादर्शन-परक चिन्तन है: उसकी समस्या है सार्वकालीन जीवन की—किसी अमर अर्थ में जीने की। वास्तव में यह समस्या सृजन के सार्थक नैरन्तर्य की है, जहाँ रचयिता अपने अवचेतन में मृत्यु से परे अनश्वरता की उपलब्धियों के लिए प्रयत्नशील होता है। "मृत्यु के चिन्तन से जीवन के प्रति निराशा ही पैदा हो, ऐसा आवश्यक नहीं—कोई नितान्त मौलिक दृष्टिकोण भी जन्म पा सकता है। मृत्यु की गहरी अनुभूति ने जीवन को असमर्थ कर दिया हो, इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण ऐसे उदाहरण मिलेंगे जहाँ चिन्तक की दृष्टि कुछ इस तरह पैनी हुई कि वह मृत्यु से भी अधिक शक्तिशाली कुछ दे जाने के प्रयत्न में जीवन को असाधारण कोई निधि दे गया। बृहदारण्यक में 'अभयं वै ब्रह्म' में विश्वास करने वाले याज्ञवल्क्य ज्ञान के जिस आदर्श को प्रतिष्ठित कर गये वह मृत्यु से परे की चीज

है।.....शंकराचार्य, कबीर आदि दर्शनों ऐसे उदाहरण मिलेंगे जिनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि मृत्यु की तीव्र अनुभूति के कारण उत्तेजित हुई। मृत्यु के प्रति निरपेक्ष भी रहा जा सकता है, जैसे जीवन के बहुत-से तथ्यों के प्रति निरपेक्ष रहते हुए भी एक कामचलाऊ जीवन-दर्शन बनाया जा सकता है। लेकिन मैं इस भय को निराधार मानता हूँ कि मृत्यु का चिन्तन भी जीवन के लिए उसी प्रकार घातक होगा जैसे मृत्यु स्वयं। मृत्यु को सोचने का यही परिणाम नहीं कि आदमी उसके सामने घुटने टेक दे और हताश होकर बैठ रहे। मृत्यु का सामना करना, उस पर विजयी होने की कामना भी बिलकुल स्वाभाविक है। वह ऐसा कुछ करना चाह सकता है जिसे मृत्यु कभी, या आसानी से, नष्ट न कर सके।" (आत्मजयी : भूमिका पृ० ५) मनुष्य की यह कोशिश चिरन्तन वेदना से निसृत होती है, और उसे वह मौत से परे ले जाती है। तब वह अपने अस्तित्व को कालातीत कर सकने का आत्मविश्वास पा जाता है, और जीवन के नैराश्य को झटककर उसमें नया अर्थ अनुभव करता है। इस प्रकार नचिकेता का चिन्तन सृजनात्मक सम्भावनाओं की आस्था में विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न सिद्ध होता है :

जीवन कोई सान्त्वना नहीं।
वह जीना मरने से बदतर
जिसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं—कल्पना नहीं।
(सारथी बुद्धि . पृ० ७७)

यही वैशिष्ट्य पूर्ण जीवन ऐसे मूल्य के लिए उत्प्रेरित है जो शाश्वत है—सृष्टा की व्याकुलता से प्रतिबद्ध है :

"तुझ में अब कृतित्व का कारण—
कारण को आकाश चाहिए
तुझ में सृष्टा की व्याकुलता,
उसको एक विकास चाहिए।
(सृजक-दृष्टि : पृ० ८०)

'खोया हुआ प्रभा-मण्डल' में 'अश्क' भी 'लोहे का गोला' लुढ़कता हुआ महसूस करने लगे हैं (इस प्रतीक को विवेकानन्द ने भी प्रयुक्त किया है। अपने एक भाषण में उन्होंने किसी एक शापित देवता का उल्लेख किया जो सिसिफस की तरह निरर्थकता के अर्थ में एक लोहे का गोला ढोकर पहाड़ के शिखर तक ले जाता है), और उसके भीतरी भय से उबरने के लिए सृष्टा की व्याकुलता को सृजनात्मक उपलब्धियों के दार्शनिक आवरण द्वारा प्रतिष्ठित करना चाहते हैं :

तभी इधर के बीज को दिये मैंने अर्पित
ताकि मुझे जब रौंद चला जाये
लोहे का घोड़ा
बीज कोख में धरती की
बेगिनती, पायें
मेरा ही प्रतिरूप बिखर फिर-फिर लहराये
मुसकाये लोहे का घोड़ा
(खोया हुआ प्रभा-मण्डल पृ० ५६)

अब प्रश्न जीवन के सारभूत होने का है। उसके सार्थक होने के चिन्तन में 'आत्मजयी' का नचिकेता अस्तित्व के प्रश्न की ओर मुड़ता है। भारतीय दर्शन के इस प्रसंग पर कठोपनिषद् के नचिकेता का आश्रय न भी लिया गया होता तो कुँवरनारायण की यह कृति कमजोर साबित नहीं होती। स्पष्ट है, नचिकेता का प्रसंग 'आत्मजयी' में विशुद्ध समसामयिक वृत्तियों से बद्ध है। जिजीविषा की निरर्थकता को 'आत्मजयी का नचिकेता भी महसूस करता है 'कहाँ जाऊँ ? इस दिशा में मृत्यु से भी बहुत आगे की अपरिमित दूरियाँ हैं।' उसके सभी प्रश्न बिना हल हुए धरे रह जाते हैं। समाधान की खोज वस्तुतः इस कृति में बिखरे व्यक्ति का चिन्तन नहीं लगती, अपितु समय-सापेक्षता की स्थिति में कुँवरनारायण उसे दर्शन के उलझे प्रसंगों से बचाते हुए नयी और पुरानी पीढ़ी के संघर्ष को प्रतीकात्मक रूप से एक मानवीय आरोप भी दे सकने में सफल होते हैं। यह उपलब्धि पुरा-कथाओं पर चढ़े धार्मिक आवरण को विच्छिन्न कर सामयिक काव्य-मूल्यों को नयी अर्थवत्ता देती है। गत्यात्मक विकास-क्रम की दृष्टि से यह अर्थवत्ता महाभारत की पृष्ठभूमि पर आधृत, 'अन्धायुग' अथवा राधा के प्रतीकात्मक संस्करण— 'कनुप्रिया' को भी प्राप्त है। इस दिशा में उपलब्धियों के नाम पर छुट-पुट कविताओं में प्रयुक्त जटायु, तक्षक, अभिमन्यु, विश्वामित्र आदि प्रतीक व्यंग्य-विपर्यय मात्र होकर रह जाते हैं। नचिकेता के प्रसंग पर पहले भी कुछ लिखा गया है, यथा मलयज की कविता 'नचिकेता' (नयी कविता–४, पृ० ५२) अथवा रवीन्द्रनाथ त्यागी के इस वर्ष प्रकाशित संकलन 'कल्पवृक्ष' में प्राप्त 'कठोपनिषद्' कविता। जाहिर है कि ये बिखरी रचनाएँ 'आत्मजयी' के विस्तृत केनवास के समक्ष साधारण साहित्यिक उपलब्धियाँ हैं, अधिक नहीं।

ययाति-वृत्ति अथवा संपाती का दम्भ

पिछले पाँच छः वर्षों से छायावादोत्तर प्रवृत्तियों एवं नयी कविता के आरम्भ से सम्बद्ध कुछ कवियों में अतीत-आस्था का प्रगाढ़ मोह बार-बार प्रकट हुआ। यह मोह इस हद तक बढ़ा कि अनेक कविताओं का कथ्य स्पष्टतः ययाति-वृत्ति से बोझिल हो उठा। नये कवियों में अभिव्यंजित व्यापक

परिवेश की समग्रता और 'शलाका पुरुष' के चिन्हों की अनुवर्तिनी संवेदनाओं से मुक्त रचनाओं ने प्रतिक्रिया स्वरूप एक गहरे दर्द को जन्म दिया। 'अज्ञेय' नयी पीढ़ी को 'गतानुगामी' कह कर ही सन्तुष्ट नही हुए, बल्कि 'नये कवि के प्रति' शीर्षक कविता में उसे 'दर्पस्फीत जयी' बताकर अपने शालीन रोष को भी नहीं रोक पाये :

आ तू आ
हाँ, आ
मेरे पैरो की छाप पर रखता पैर
मिटाना उसे
मुझे मुंह भर भर गाली देता—
आ, तू आ

इस वर्ष के तीन संग्रहो मे इस स्तर का दर्द तनिक दूसरे अंदाज मे व्यक्त हुआ। कुछ तो अतीत आस्था से अनुरंजित होकर, और कुछ अपने अस्तित्व को नयी पीढ़ी की पीठ पर ययातिपरक मोह से भाराक्रान्त करके। इस प्रकार के मोह का होना 'बच्चन', 'अश्क' और 'भारत भूषण' के संग्रहों मे अप्रत्याशित नही था। 'पूर्ववर्ती वायवीयता से विद्रोह' का दावा करने वाले भारत भूषण के स्वरो में 'एक युग पहले की बातें' और पुराने गीतो के प्रति विकलता 'अश्क' से कही अधिक लगी, जबकि 'बच्चन' का दर्द *चमगादड़ो के चाम को कुछ लोगो द्वारा दमामे पर चढाने का दर्द है* (युग और युग, पृ० ६२)। यह दर्द इस सीमा तक चटका कि वे छोटों को चुनौती देने लगे। मुझे धर्मवीर भारती की 'सम्पाती' शीर्षक कविता ('कल्पना' १९५१ मे प्रकाशित) स्मरण हो आती है। लगता है, दर्द की ध्वनि सम्पाती के उसी दम्भ की शक्ल मे सामने आई, जिसके बड़प्पन की अदा नये मूल्यो को हिकारत से देखती है :

हम अब भी कुछ कर सकने का साहस रखते
हम सरोष, त्यक्ताश
आज कुछ कर गुजरेंगे।
टूट जाएँ हम बहुत गरम हैं।
(दो चट्टानें . पृ० ६७)

हर क्षण टूट पड़ने को उद्यत कगार
चट्टानो का हठ क्या समझे ?
(खोया हुआ प्रभा-मण्डल : पृ० २१)

हिन हिनाने वालो ?
सुनो।
यह तक्षक पलट कर तुम्हीं को डँसेगा।
(वही, पृ० ३८)

'बच्चनजी' ने इस मनःस्थिति में नये-पुराने के प्रश्न को विस्मृत नहीं किया। नये और पुराने की व्याख्या उनके शब्दों में—

प्याज का
जो सबसे पहला छिलका
उतरा था
वह उसका सबसे नया रूप था,
जो सबसे बाद को उतरेगा
वह उसका सबसे पुराना रूप होगा।

अर्थात् छिलका अभी और उतरेगा। क्योंकि उनका तर्क है—'उद्घाटन नये से पुराने का होना है, सृजन पुराने से नये का होना है', (पृ० १६१)। आत्म-सन्तुष्टि के हित में यह भी स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इसमें नये के क्रम में कहीं व्यवधान सम्भव नहीं है। लेकिन चैलेन्ज का स्वर, निश्चय ही नयी पीढ़ी को इसलिए ठेस पहुँचाता है कि अग्रगण्यों की चुनौतियों से उसकी श्रद्धा घायल होने लगती है। उसे कहा जाता है कि वह पूर्वजों के खज़ाने पर कुण्डली मारकर आ बैठा है, नव-प्रभात के मुर्गे से उसकी तुलना की जाती है 'कि सवेरा होने पर मुर्गे बोलते हैं मुर्गे के बोलने से सवेरा नहीं होता', उसे गत्यारोध का 'पुष्प' बनाया जाता है, और मूल्यों के विघटन की कल्पना करते हुए 'बच्चन' उसे 'शृगालासन' कविता में शेरों के आसन पर तदबीरों से आ बैठा स्यार तक कह डालते हैं। महाभारत के आदिपर्व—२१२-८ से प्रेरित इस साहश्य-कल्पना में दर्द यों मिलता है कि स्यार आसन को प्राप्त करने के लिए वह सब करता है, जो असली शेर नहीं करता। इसी कविता के अन्त में एक पाद-टिप्पणी दी गयी है 'हमारे इलाहाबाद की तरफ एक कहावत कही जाती है—लड़ा खेत पर स्यार बाजी ।' समीक्षा के सही स्तर पर 'दो चट्टानें' में कुछ कविताओं का विषय-प्रतिपादन दैनिक अखबारों के सम्पादकीय की तरह व्यंजित हुआ है। आरम्भ की छः कविताएँ चीनी-आक्रमण की प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति, सात कविताएँ पण्डित नेहरू के अवसान से सम्बद्ध गुलाब की 'इमेज' पर आधृत स्मृति-रचनाएँ (जिस तरह निराला के—'विक्रमादित्य का सिंहासन') तथा शिवपूजन सहाय, सुभद्रा, मुक्तिबोध और गांधीजी की स्मृति में एक-एक कविता। सभी कविताएँ कम्पन और शौक के बोझ से दबी हुई हैं। यह सच है कि उत्तर-छायावादी विघटन को 'बच्चन' ने अपनी अनुभूतियों की आँच में अभ्युदयत विचारों के

होते हुए भी, वैविध्य दिया और सादगी इस दर्जे तक कविता को दी कि कहीं-कहीं काव्यगत प्रेषणीयता गद्य-परक हो जाती है। इस सन्दर्भ में डॉ० नगेन्द्र जैसे प्रौढ़ आलोचक के शब्द यहाँ उद्धृत करना असंगत न होगा—"बच्चन का स्थान हमारी पीढ़ी के कवियों में बहुत ऊँचा है—यद्यपि इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि गुण और परिमाण दोनों में 'बच्चन' से अधिक खोखली कविताएँ भी किसी समर्थ कवि ने नहीं लिखीं" (कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ९६)।

लेकिन जिस दर्द का जिक्र मैंने किया उसके एक स्वस्थ पक्ष की गरिमा हमें केदारनाथ अग्रवाल के नये संकलन 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में मिलती है। कुंठाओं से मुक्त मन का यह रंग ययाति-वृत्ति और सम्पाती-दुराग्रह से कितना अलग है। निश्चय ही हमारे श्रद्धास्पद अग्रजों में बहुतों को यह अप्राप्य है :

> हम जिये न जिये दोस्त
> तुम जिओ एक नौजवान की तरह
> खेत में झूम रहे धान की तरह
> मौत को मार रहे बान की तरह
>
> (फूल नहीं रंग बोलते हैं)

खण्डित आईने का अनर्गल प्रलाप

आखिर परिपक्वता की स्थिति में आत्मालाप किसलिए? क्या अनुभूतियों की व्यंजना में कहीं रिक्तता का बोध होने पर ऐसा होने लगता है या रचयिता में कहीं ऐसा भय क्रमशः उत्पन्न होने लगता है कि वह अपने को एक कल्पित ऊँचाई पर प्रतिष्ठित कर उपदेश दिये बिना सन्तुष्टि नहीं पाता? यह मजबूरी कुछ अंश में 'अश्क' में है, भारत-भूषण में है और 'बच्चन' में भी है। इस मजबूरी, या कमजोरी का दूसरा पक्ष—व्यंग है, जिसे मैं आधुनिक मन:स्थिति के संघर्ष में आन्तरिक क्षोभ से मुक्त होने की कुछ-कुछ प्रक्रिया मानता हूँ। 'बच्चन' ने 'गैंडे की गवेषणा', 'काठ का आदमी' और 'मास का फर्नीचर' जैसी अच्छी व्यंग कविताएँ भी इधर दी हैं, और भारतभूषण ने इसी सन्दर्भ में 'अनुपस्थित लोग' में 'ओरी ओ', 'ओ मन भावन', 'धन्य अरी', 'आया रे—भाया रे' जैसे रूढ़ सम्बोधन वाक्य-पदों की पुनरावृत्तियों के बावजूद कुछ अच्छे, सटीक व्यंग और तुक्तकी अभिवृत्ति की रचनाएँ इधर दी हैं, जो दरअसल उनका उपयुक्त क्षेत्र है। यद्यपि इस नाते उनकी अधिकांश कविताएँ सम्मेलनीय स्तर की बरबस लगती हैं, लेकिन समग्र व्यंग्यात्मकता पूर्ण प्रभाव के 'विदेह', 'मैं और मेरा पिट्ठू' तथा 'गमले का पौधा' पूरी सचाई से उत्कृष्ट कविताओं का आभास देती हैं। लगता है मानो उन्हें भारत के दूसरे व्यक्तित्व ने सृजा हो। कुंठाएँ और आत्मप्रवंचनाएँ सचमुच एक अच्छे

कवि को खत्म कर देती हैं। किन्तु जो कविता को गम्भीरता से नहीं लेता, वह अपने व्यंग्य से एक अलग 'डायमेन्शन' पा लेता है। विघटन की पीडाओ के होते हुए भी उसका सीधा और सपाटपन व्यक्तिमूलक सहजता की स्थिति स्वीकार कर लेता है। 'अश्क' ने कविता लिखने का आरम्भ पंजाबी से किया। फिर उर्दू में गजलें भी लिखी। इतनी सशक्त भूमिका यकायक किसी से छूटती नहीं। 'अश्क' से छूट गयी, मिवा छायावादी भाषा के। उससे जरा भी उत्कट लगाव उनमें प्रकट नही हुआ। पता नही ऐसा व्यक्ति जो रूढ़ि को सहज छोड सकता है, युवा पीढी से क्यो खिजा रहता है? स्पष्ट है, उसका सन्ताप और आक्रोश यकायक 'एक चेतावनी' बनकर बौद्धिक दुरूहता से भरी रिरियाकारियो के विरुद्ध उठ खडा होता है। लेकिन, कभी-कभी वह असंयत क्यो हो जाता है? इसलिए कि 'याद का आकाश' गहरा होता जा रहा है? इसलिए कि 'लकडबग्घे' अँधेरे में टामकटोये कर रहे हैं? इसलिए कि खण्डित आईने में आकृतियाँ विद्रूप हो उठी हैं?

खुले आकाश मे पके धान की गंध :

प्रकृति-चित्रो की विविधरूपा, निश्छल, सहज और व्यक्तिनिष्ठ अभिव्यक्ति इधर के दो संग्रहो की कविताओ में विशेषतया उपलब्ध हुई। यथार्थ की अनगढ शोभा को व्यक्ति रंगो में केदारनाथ अग्रवाल की अनेक कविताएँ संयोजित किये हैं। 'फूल नही रंग बोलते हैं' में पिछले आठ वर्षो में लिखी उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ प्रथम बार संकलित होकर आईं। प्रथम बार इसलिए कि केदारनाथ अग्रवाल के पूर्व प्रकाशित तीन कविता-संग्रह अब उपलब्ध नही हैं।

इस दशक में आकर काव्य-मूल्य अन्तर्द्वंद्वो के खुरदुरे कगारो पर आ खड़े हुए। नगर बोध के वैविध्य में कथ्य इस कदर उलझता गया कि समूचा आंचलिक वैभव कविता के लिए पिछडा विषय प्रतीत होने लगा। लेकिन अनुभूति की श्वास भौगोलिक घेरो में कभी रुद्ध नहीं होती। मानवीय संवेदनाओ और विश्वासो के संस्पर्श कुंठामुक्त व्यक्ति को खुली सुबहो, पके खेतो, उन्मादी मौसमो, वासन्ती गन्धो, पक्षियो, पत्थरो, नदियो और धूप की गरमाई में न मिले यह असम्भव है।

> धूप नही यह
> बैठा है खरगोश पलंग पर
> उजला
> रोयेंदार, मुलायम—
> इसको छू कर
> ज्ञान हो गया है जीने का
> फिर से मुझको।
>
> (फूल नहीं रंग बोलते हैं : पृ० ६०)

प्रकृतिपरक यह मानवीय आस्था केदारनाथ अग्रवाल की विशेषता है। लिजलिजे दुहराव, करुणा और नैराश्य उन्हें अपना शिकार नहीं बना सके—कदाचित् इसलिए कि उन्हें अपने व्यक्तित्व से विदेह होने की क्षमता प्राप्त है—तटस्थ दृष्टि उपलब्ध है। अग्रवालजी की रोमैन्टिकता फैशन परस्त नहीं है, सहज करुणाई है। मांसल और ताजी है। केक्टसी नहीं। बरबस ओढ़ी हुई नहीं। क्योंकि हर अनुभूति धरती के धूल-पानी से निसृत और भोगी हुई है। जिन्दगी के इतने गहरे लगाव ने उन्हें बल्लमी और सन्तप्त बनाया (प्रगतिवादी रचनाओं में), पर समय के 'वादी' दौर में उनका कवि भीतर से बहुत कम 'गढ़े यथार्थ' की ओर लपका। जो कुछ उनकी संवेदनाओं ने ग्रहण किया वह गहरे में जाकर पकता रहा। वास्तविकताओं ने सम्भावनाओं के द्वार बन्द नहीं होने दिये; उनके पलड़े मानवीय आस्थाओं और प्रकृतिपरक सौन्दर्य की ओर ही अधिक झुके। संग्रह में उपलब्ध बाद की कविताएँ इस दृष्टि से मुझे काफी ईमानदार लगीं :

नदी म्यान से खिंची एक तलवार है
जो मैदान में लगातार चलती है
(पृ० १२२)

बादल ने मार दी
बरछी
गाँव को,
और फिर चला गया
लेकिन कुछ हुआ नहीं
चमकी थी बिजली
सावन की रैल में। (पृ० १५०)

आत्मपरक उपलब्धियों के प्रति सतत असन्तुष्टि का दर्द जिन कुंठाओं को उत्तर-छायावादियों में भरता रहा है, वह केदारनाथ अग्रवाल में पैदा नहीं हुआ। यही वजह है कि उनके कवि-व्यक्तित्व को यह वैशिष्ट्य एक ऊँचाई पर ले जाकर प्रतिष्ठित करता है।

न बुलाओ तुम मुझे इस समय अपने पास
खोदना है अभी मुझे
भाग-भाग उग आयी बेकार विचारों की घास
तोड़ना है मुझे अभी
भाव की भूमि की कुंठा में बाँस
(पृ० १११)

रवीन्द्रनाथ त्यागी का संकलन (कल्पवृक्ष) कृतीत्व मे 'पेस्टोरल' जिज्ञासा से अनुरंजित है। प्रकृत सादगी के अलावा पहाडी मौसम, छायाएँ, चांद और चांदनी का मोह एवं सोनधूप का 'नास्टेल्जिया' कविताओ मे बार-बार लौटकर आता है। लौट आने के आग्रह मे भी व्यंजनाएँ काफी ताजी हैं (ताजी कविता के अर्थ में नही) : 'झंझावात मे चांद नभ की डाल से टूट गया', 'मैंने साँसो के सिक्के खोये' अथवा

बूंदो की हजारो चिडिएँ
टीन की छत पर फुदकने लगी

(स्टेशन पर वर्षा, पृ० २०)

चांद की फैली बाँहो मे
दिशाओ के आँगन मे रात बँधी है

(बरसो पहले, पृ० ६४)

लेकिन निसर्ग की आस्था मे एक भय है जो कभी-कभी कवि को रोमैन्टिकता के उस 'लेवल' तक खीच ले आती है जिसका द्वार अधुनातन व्यंजना के ठीक विपरित दिशा मे खुलता है। इस द्वार के आगे आँगन में लोकगीतो का मध्ययुगीन भावालोक है। त्यागी का कवि इस आँगन मे आकर विमोहित हुए बिना नहीं रहा, और उसका परिणाम है संग्रह की दो कविताएँ—'एक थी हिरनी' (एक लोकगीत का रूपान्तर) तथा 'दो हंसो की कथा।' आश्चर्य है, केदारनाथ अग्रवाल बाँदा मे रह कर भी इस मन स्थिति के शिकार नही हुए। लेकिन संग्रह की प्रथम और अन्तिम, दो कविताएँ निश्चय ही त्यागी को इस आँगन के बाहर खडा कर देती हैं। चांद ने त्यागी को बुरी तरह परास्त किया। चांद उसे जंगली घिघियाता, घायल, युद्ध के बन्दी-सा, सलाम करता हुआ, गैस के हण्डे-सा, नंगा, पीडित, माँग के सिंदूर-सा, डूबता हुआ और न जाने कैसा-कैसा नजर आया। लेकिन मुनि रूपचन्द का 'अंधाचांद' शीर्षक तक ही अटपटी कल्पना साबित हुआ। 'अंधा चांद' की रचनाएँ कथ्य मे न नयी कविता हैं, न शिल्प मे उल्लेखनीय उपलब्धि। अधिकतर सनातनवृत्ति की श्रद्धापरक, उपदेशात्मक, अबोध, विनयात्मक, प्रभु-स्वभावी रुझानो से आवृत्त सपाट रचनाएँ हैं। अपवाद है इस कोटि में महेन्द्र कार्तिकेय का 'क्षितिजो के काँपते अधर'। पैंतालिस कविताओं के इस संग्रह की अन्तर्दृष्टि परिवेश-बद्ध होकर भी बौद्धिक संवेदनाओं से संश्लिष्ट और सम्भावनात्मक है।

नियो रोमैन्टिसिज्म :

रोमैन्टिक विश्वासों का इधर एक संकलन 'कृष्ण-पक्ष' उल्लेखनीय है। 'सफेद चिड़ियाँ' और 'लाल फूलो की टहनी' संकलनो के बाद 'कृष्ण-पक्ष' मे आकर विनोदचन्द्र पांडेय की रोमैन्टिक वृत्ति में एक विरम का मुक्त बिखराव आया लगता है। पाडेय की पेशकारी कुछ इस तरह की है उसे प्रचलित रोमानी कविताओं के साथ नही रखा जा सकता। उनका रचाव अत्यधिक व्यक्तिवादी और भाषा का मुहावरा अपरिचित लगता है। इन्ही कारणो से पाडेय समीक्षको के रूढ मन को आकृष्ट नहीं कर सके। *'कृष्ण-पक्ष' में कई बिम्ब संपुजित है।* कुछ बिम्ब साफ हैं, कुछ अस्पष्ट, कुछ अधूरे, कुछ तरल रंगों में गुम्फित, कुछ आत्मरत्यात्मक अनुगूंजियों के दंश से संस्पर्शित तथा कुछ ऐसे कि कवि को शब्दों की अर्थवत्ता मे वे आयाम नही मिलते जिनमे वह पूरी तरह अपना कथ्य व्यक्त कर सके :

तुम से मिलने के पूर्व
जब मिलने की इच्छा से मिला
(समर्पित, पृ० ४)

उमर डूबनी है
मेरे खयाल की
(डूर, पृ० १०)

अतीत है विरत का भाग
मेरा मन जड़ हुआ

कच्चे रोमांस की लहरें

भाव-हीन रोमैंटिकता अथवा कैशोर्य स्तर की प्रेमपरक कविताओं की दृष्टि से तीन छन्द संग्रहों का जिक्र कर किया जा सकता है। चन्द्रकिशोर का 'और एक पुष्प गिरा' अत्यन्त साधारण है, लेकिन तनिक सम्भावना भूपेन्द्र वनमाली के संग्रह 'मैं और तुम' को देखकर होती है, यद्यपि इसकी ज्यादातर कविताएँ जिस्म, रूह, और यौन-सम्बन्धों के कच्चे ख्यालातों के इर्दगिर्द हैं। अंग्रेजी शब्दों की असभ्य भूलें और भौंडे पद-विन्यास इस संकलन की प्रमुख कमजोरियाँ हैं। कुछ अधिक सम्भावना दाउजी गुप्त के 'भोंल्योनी' को पढ़कर लगती है। कविता का स्वर संयत और बौद्धिक है। लेकिन घोर बचकाना एवं साहित्यिक अहम् और आडम्बर की दर्प, शब्द-हीन बकवास का उदाहरण रामप्रसाद मिश्र का संकलन 'देश, दिल्ली और अहम्' किसी तरह भी, किसी भी माने में उपलब्धि नहीं है।

लिंगवादलमोतवाद

वर्षों पूर्व प्रपद्यवादी (नकेन) कवियों ने घोषणा की थी कि उनकी कविताओं में प्रत्येक शब्द और छन्द का निर्माता स्वयं उनका कवि है। 'पप्पणा' अर्थात् भूमिका के अन्तर्गत उन्होंने प्रपद्यवाद की द्वादशसूत्री घोषणा की थी। लेकिन उसी संकलन के प्रपद्यों को पढ़ने पर उस घोषणा और कृतित्व में संगति प्रतीत नहीं हुई। उस समय लिखी जाने वाली कविताओं और नकेन की रचनाओं में विशेष मौलिक पार्थक्य सम्भव नहीं हुआ। वर्षों पूर्व की यह घोषणा व्यर्थ सिद्ध हुई। उसी नकेन के 'के' अर्थात् केसरीकुमार ने 'कविताएँ शिवचन्द्र शर्मा की' संग्रह के आरम्भ में टिप्पणी देते हुए लिखा हैं : "हिन्दी के नये काव्य में 'कूटार्थकथाएँ' पुनर्निर्मित नहीं, पुनरुक्त हो रही हैं वह मूल्यों का काव्य हो चला है, मनोविज्ञान का नहीं।" इस संन्दर्भ में उन्होंने शिवचन्द्र शर्मा की कविताओं को 'नासूर कविता' बताया है "जिन्हें पढ़ने में भीतर की जेल यात्रा का एक ऐसा अनुभव होगा जो खतरनाक भी होगा और मुक्ति के लिए अनिवार्य भी।" (लेकिन मैं इस अनुभव से वंचित रहा)। इन कविताओं के रचयिता—'ब्रह्मा' को केसरीकुमार ने "लिंगवादलमोतवाद का अवधूत, फ्रांसीसी रंगवाद का गोमयोपलेपक, लय का तान्त्रिक, अलय का सिद्ध साहित्यिक, अगस्त्य, औघड, प्रपाती और हिन्दी का अपावनेय व्यक्तित्व" कहा। शिवचन्द्र शर्मा की कविताओं की विशेषताएँ उनके शब्दों में इस प्रकार है : "नये और पुराने की अकविता-कविता का पारदर्शी नवीन अर्थ, नंगी-मंगी मनो शिरोरेखा, अन्वित वाक्पदीयता, व्यंजनातीत चिन्तंगाचान, उभयपद की अकथा, पृपन्य का विस्वाद, अश्वेत-स्वच्छता,

पञ्चाङ्गना का गल्प, अनाकोहन का कौतूहल, कविता की नयी परिभाषा—पंचशायंध्य, कथ्याकथ्य, ढक्काहत काव्य; संक्षेप में हर कविता प्रबन्ध मतायतें।"

'कूटार्थ कथा' की इस भाषा को समझना जरूरी नही है, और उसी तरह अधिकांश कविताओं को भी समझना आवश्यक नही लगता। क्योंकि प्रपञ्चवाद के द्वादशसूत्र की भांति लिम्वादलमोतवाद के पाँच सूत्र हैं, जिनकी व्याख्या स्वयं उनका सृष्टा ही कर सकता है। फिर भी कहना असंगत न होगा कि सूत्र और कविताएँ दो अलग वृत्तों मे स्थित हैं। कविताएँ न अकविता हैं न कविता। इनका विधायक-संपुजन अथवा शब्द गत इकाई या अन्वित वाक्पदीय विन्यास उनके 'ब्रह्मा' के लिए चाहे निज काव्यमोह के कारण कूटार्थ संचित हो, चाहे उनकी तात्विकता महत्त्वपूर्ण अनुभूति की वाहक हो, पर प्रबुद्ध पाठक के लिए उनका कथ्य बहुत ही कम साधारणीकृत उपलब्धि है। ऐसी कविता उसकी नजर मे महज साहित्यिक औघढता से अधिक नही। शायद यही शिवचन्द्र शर्मा का अभीष्ट भी है।

पर क्या इस प्रकार के असंयत बखेड़े किसी नयी सम्भावनाओं को जन्म नही दे सकते? बुद्धि की कसौटी पर शब्द अपने मे निहित अर्थ को अव्यक्त विस्तार दे सकने का सामर्थ्य तो रखते ही हैं। इस दृष्टि से 'एब्सर्ड' कविता और लक्ष्मीकान्त वर्मा की ताजी कविता का तर्क दोनो एक नया आकाश तो खोज ही सकते हैं। शायद कुछ कवि सामाजिकता को दुलार कर अलग खड़े हो सकते हैं। उनकी अवज्ञा समूची संस्कृति के खिलाफ हो सकती है। प्रचलित विश्वास और काव्यरूपो के विरुद्ध ऐसे व्यक्ति का सृजन आज के पाठक के लिए 'कूटार्थ' मात्र ही साबित हो तो आश्चर्य नही। उसे इस बात की चिन्ता न होगी कि उसकी कविता कोई समझे ही, क्योंकि वह समझने वालो का ख्याल रखकर लिखेगा ही क्यो? यह स्थिति 'बिटनिक' काव्य से काफी आगे की होगी। तब कविता के रूढ़ प्रतिमान और संयत रचाव से इतर अतिवैयक्तिक, स्वच्छन्द तथा अपांक्तेय अहम् को अनावृत्त करती एक अलग कविता जन्म लेगी। इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

इस वर्ष के संकलनों और अनेक फुटकर कविताओं को देखकर यह सम्भावना अप्रत्याशित नही लगती। नयी कविता और उसके बाद की कविता के बीच एक बड़ी खाली बन गयी है। सृजन-प्रक्रिया के साथ भाषा और काव्यरूपों की दिशाएँ टूट गयी हैं। दो दशक की दूरियां ने दर्शियां में निश्चय ही गहरी दरारें डाल दी हैं। अनास्थाओं, असंगतियो, निरर्थकताओं और गैर-रोमानी अभिवृत्तियों में काव्य मूल्यों की नयी भूमिका उभर चुकी

है। प्रतिष्ठाकामी भाषा के गीतजयी मुहावरे कविता में चढ़ने लगे हैं। नवगीत की प्रतिक्रिया उसी का परिणाम है। सन् '६५ में, प्रकाशित काव्य-संग्रहों के बावजूद, कविता ने नये आयामों की तलाश आरम्भ कर दी। तलाश के इस संधिवर्ष में दिशाओं की मुट्ठी-मुट्ठी भुजाओं में टिका हुआ आकाश खंडित हो चुका है और उसे वह सब स्वीकार्य नहीं, जिसे 'सम्पाती का दम्भ' सहेजना चाहता है। उसकी अन्तश्चेतना का वृत्त निश्चय ही अलग होता जा रहा है—उसे नयी कविता के दायित्वहीन अनुकरण से बाहर निकल कर अपनी बात कहने में इस वर्ष अधिक आसानी अनुभव हुई। •••

रंगों का दृश्यमान स्वरूप प्रकृति की मनोरम और बहुमूल्य भेंट है। व्यापक अर्थों में यह एक मनोवैज्ञानिक 'फिनामिना' है। एक सत्य है जो भौतिकी होकर भी स्वतन्त्र अस्तित्व-सम्पन्न है एवं जिसका सम्बन्ध, प्रधानतः, रंगगत संवेदना तथा व्यक्तिपरक 'कलरविजन' से है। काव्य में इस तत्व का अध्ययन अपने आप में व्यापक विषय है। इस दृष्टि से हिन्दी काव्य के सौन्दर्य-बोध का परीक्षण अभी तक नहीं किया गया। सिद्ध-सामन्तकालीन रचनाओं से लगाकर अब तक की नयी कविता एवं 'अभिनव काव्य' ('अज्ञेय' की रुचि से भिन्न १४ कवियों का कविता-संग्रह, 'प्रारम्भ' १९६३, की भूमिका में प्रयुक्त नामकरण) तक रंग-तत्व का अध्ययन अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों की सम्भावित उपलब्धि में उपादेय हो सकता है। सौन्दर्यगत तथ्यों के अतिरिक्त कसौटी पर परीक्षण के पश्चात् कई कवियों का रंगान्ध (कलर ब्लाइंड) सिद्ध होना अप्रत्याशित न होगा। प्रायः ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि रंगों और उनकी क्रमागत रंगतों के भेद-प्रभेद करने में असमर्थ होती है। लेकिन यह भी सच है कि अनेक प्रबुद्ध एवं संवेदनशील कवियों की रंग-चेतना पर्याप्त विकसित होती है। उनमें और सजग चित्रकारों की अधुनातन दृष्टि में एक सामान्य अनुरूपता और अवचेतन मन की समानान्तर स्थितियाँ उपलब्ध होती हैं।

सुविधा के लिए काव्य में रंगों के प्रकृत प्रयोग की कुछ अवस्थाओं पर विचार किया जा सकता है। स्थूलतः काव्य में रंगों की चार क्रमागत स्थितियाँ लक्षित होती हैं—१. सूचक, २ संयोजक, ३. विशुद्ध और ४. संवेदक।

इनमें से प्रथम तीन अवस्थाएँ चित्रकला में प्रयुक्त रंग योजना की 'हेरालडिक,' 'हारमोनिक' और 'प्यूवर' अवस्थाएँ हैं। चौथी स्थिति काव्य की बहुत कुछ निजी वस्तु है। शब्दों में निहित व्यतिरेक संवेदना – प्रसृत बिम्ब, मंडचित्र, अवचेतन मन की आँखों से देखी गयी विघटित – समग्रता एवं रंग-प्रधान 'इमेज' इसके अन्तर्गत आते हैं। यथा :

तालाब के मेंवार वन में जल की परछाइयाँ चंचल हैं,
हरी काई के कालीन पर एक अनात्मा देह लेटी है
और मीनारें चाहती हैं
कि लुढक कर उसके उरोजों को चूम लें।
[कुँवर नारायण एक थी रानी]

सौंफ हुए हंसों सी दोपहर पाँखें फैला
नीले कोहरे की झीलों में उड़ जायेगी।
[धर्मवीर भारती नवम्बर की दोपहर]

सनसी के चाँद की नाक मेरी पीठ में धँस जाती है।
मेरे लहू से भीग जाते हैं टेक्सियों के आराम देह गद्दे
फुटपाथ पर रेंगते रहते हैं सुर्ख – सुर्ख दाग।
[राजकमल चौधरी नींद में भटकता हुआ आदमी]

सूचक अवस्था के रंग अत्यन्त प्राचीन हैं। पूर्वोत्तर परम्पराओं मान्यताओं और रूढ़ विश्वासों से इनका प्रगाढ़ सम्बन्ध है। गुहा – मानव के [illegible] कालीन चित्रों और चट्टानों पर अंकित चित्र [illegible] में उपलब्ध रंग इस स्थिति के पुरातन प्रमाण हैं। ये रंग प्रायः प्रतीक रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिये एक आदिम चित्र की कल्पना की जा सकती है काला मटमैला पशु, कुछ टेढ़ी धारियाँ और वहीं एक चट्टान पर हृदय का रक्ताभ आकार। जानवर और हृदय की आकृति के रंग एक दूसरे से स्पष्ट भिन्न हैं। लगता है, हृदय के अंकन में जीवन के प्रतीक की कल्पना की गई है। रक्त जिसका ध्येय है। रक्त जो शरीर की नसों में बहता है रक्त जो जीवन ऊष्मा का द्योतक है। गुफाओं में प्राप्त हड्डियों के साथ चिन्ह जो जीवन के इस आकार को व्यक्त करते हैं। इस काल के कुछ निश्चित रंग बन गए। [illegible] का [illegible], काला और पीला मुख्य रंग थे। [illegible] और काला रात्रि अथवा मृत्यु का सूचक [illegible]। [illegible] इतनी ऊँची-नीची थी कि विशिष्ट वस्तुओं के लिए निश्चित रंग ही उपयोग में लाये जाने का विधान था। [illegible] लिए लाल और आकाश के लिए नीला रंग [illegible]। [illegible] प्रयुक्त रंगों की ऐसी [illegible] उन वस्तुओं के लिए [illegible] उत्पादन [illegible] के बदौलत। [illegible]

ग्रामीणरसा सम्बन्धी अपने प्रयोगों में इन्हीं रंगों को माध्यम बनाया। जहाँ तक काव्य का प्रश्न है इन रंगों के निरूपण सम्बन्धी तत्कालीन उदाहरण हमारे समक्ष नहीं हैं। प्रागैतिहासिक काव्य के अवशेष उपलब्ध होना सम्भव भी नहीं फिर भी लोकगीतों में रंगों की यह अवस्था आज भी विद्यमान है। आदिवासियों के गीतों में प्रतीकों द्वारा अनेक तथ्यों की व्यञ्जना की गई है। प्रेम, विरह और काम-विषयक सन्दर्भ तो प्रायः संकेतों में ही व्यक्त किये जाते रहे। अरूप भावों के लिए भी संकेत उपयुक्त प्रतीत हुए। इस कोटि की सांकेतिकता अंशतः १९४० के पश्चात् हिन्दी कविता में आयी। इसके साथ ही अभिव्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का उदय हुआ। यद्यपि अभिव्यक्तिवाद वाद रूप में कालक्रम से कभी नहीं बँधा क्योंकि उसकी समस्त प्रक्रिया वैयक्तिक रही। अभिव्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ सदैव ही विकृत, उलझावभरी, जटिल, अपरूप और यथार्थ-च्युत व्यक्तिपरक अभिव्यक्तियों को, किसी भी मूल्य पर, समर्थन प्रदान करती रही। तथाकथित नयी कविता को इनका लाभ उस समय मिला जब कि 'क्षण-सत्य' अंकित करने में बौद्धिक संवेदना को उपयुक्त समझा गया। इसी से कला जगत के क्यूबिज्म, आर्गेनिक और ज्यामितिक सिद्धान्त, लेन्डस्केपिक पैटर्न, शिल्पगत अनगढ़ता, आदि उद्भावित हुए और चित्रकारों द्वारा अनुभूत प्रायोगिक स्थितियों को कवियों ने भी जीया।

'सूचक' अवस्था के रंगों की यात्रा प्रागैतिहासिक काल की कुहाओं से निकल कर साहित्य के आदिकाल, मध्यकाल और प्रयोगों के बहाने आधुनिक युग तक हुई। फिर भी उनका संकेन्द्रण पंद्रहवीं शताब्दी तक बराबर बना रहा। इसके अतिरिक्त, आदिम अवस्था से हटकर उन रंगों की सांकेतिकता में पर्याप्त विकास हुआ। पूर्ववर्ती परम्पराओं को ज्यों की त्यों स्वीकार करते चले आने की रूढ़ मान्यताएँ बहुत कुछ प्रथमावस्था को बनाये रखने में सफल हुई। सिद्ध-सामन्त काल (दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी) की रचनाओं में रंगों की यही अवस्था लक्ष की जा सकती है। रासो काव्य, नाथसिद्धों की वाणियाँ, अपभ्रंश दोहा – साहित्य, जैन मुनियों के रासक प्रबन्ध आदि में सूचक अवस्था के सभी रंग परम्परानुमोदित स्थिति में बने रहे। लोक-विश्वासों के अधिक समीप होने के कारण लोकसाहित्य के समान धर्मी रंगों का ही इनमें संचयन हुआ। धार्मिक अनुष्ठानों और कवि समय ने रंग तत्व निरूपण की इस अवस्था को जकड़े रखा। जिस प्रकार चित्रकला में 'हेराल्डिक' अवस्था १५ वीं शताब्दी तक चलती रही, उसी तरह कवि समय के अनुसार 'सामान्यतः मणिमाणिक्य का रंग लाल, पुष्पों का श्वेत और मेघ का काला' माना गया। काव्य-मीमांसा और अलंकार-शेखर में विविध वस्तुओं के लिए निश्चित रंगों का ही निर्देश किया गया है (देखिए'हिन्दी साहित्य की भूमिका,' पृ० २५३-५४)। कवि समय की बारह श्रेणियों में

कुछ उपकरणों के लिए कतिपय रंगों का निषेध भी किया गया है। काव्य के अतिरिक्त रंगों के विधान की अनुभूति मुगलकालीन चित्र शिल्प की पूर्ववर्ती राजपूत शैली, पहाड़ी या हिन्दू कलम में भी मिलती है। अजन्ता और बाघ गुफा के बौद्धधर्म से प्रेरित भित्ति चित्रों में पच्चीकारी और रंगों की सादगी के अतिरिक्त उनसे उद्भासित वर्णनात्मक सौन्दर्य का परीक्षण समसामयिक काव्य-साहित्य से किया जा सकता है। इसलिए काव्य और चित्रकला में कहीं-कहीं 'परसेप्शन' (प्रत्यक्ष ज्ञान) और समवर्ती धार्मिक एवं सांस्कृतिक पद्धतियों के कारण सामान्य संवेदनाएँ और उनकी सामान्य अभिव्यञ्जनाएँ पायी जाती हैं।

रंग-तत्व की द्वितीय अर्थात 'संयोजक' अवस्था में मान्यताएँ टूटने लगीं। परम्परा से हटकर रंग-निरूपण में वैज्ञानिक दृष्टि का आभास आने लगा। चित्रशिल्प में यही स्थिति 'हारमोनिक' कही गई जिसमें रंगों का रिश्ता 'टोन' से आबद्ध हुआ। प्रकाश और छाया के सन्दर्भ में रंगों के क्रम और मेड़ प्रमाण-बद्ध करने वाली दृष्टि इस अवस्था में विकसित हुई। विदेशों में संयोजक अवस्था अठारहवीं शताब्दी के अंत तक बनी रही और भारत में बीसवीं शताब्दी के पहले दशक तक। हिन्दी काव्य में इस कोटि का रंगविधान छायावाद की समाप्ति तक उपलब्ध होता है, जबकि भारतीय चित्रकला में यही अवस्था अवनीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रयुक्त 'वाश' शैली के प्रचारित होने और बगाल स्कूल की स्थापना के पूर्वतक स्थिर रही। इसके पहले मध्यकालीन कविता में उपलब्ध लोकतत्वों के कारण 'सूचक' अवस्था लुप्त नहीं हुई। चित्रों में कई घटनाएँ और एक साथ कई दृश्यों को दिखाने की पद्धति वर्णनात्मक काव्य में उसी तरह मिलती भी है। आगे चलकर मुगलों के प्रभाव से सामन्ती चमक-दमक, वैभव और मनोहारी दृश्यों को प्रश्रय मिला। चित्रों में गहरे रंगों का उपयोग किया जाने लगा। सुनहरे रंगों में साज-सज्जा की ओर झुकाव बढ़ा। काले और गहरे बैंगनी वर्णों के अतिरिक्त लाल, पीत, हरित और नील केवल दृश्य छवि के लिए ही नहीं, आकृतियों और नक्काशियों के लिए भी प्रयुक्त किये गये। प्रेमाख्यानक रचनाओं में 'संयोजक' विधान इतना लक्षित नहीं होता, न उस तरह की तात्कालीन चित्रकला ही थी। पूर्व मध्यकाल एवं भक्तिकाल के दो-ढाई सौ वर्षों में संतों की रचनाओं में रंगों की प्राय रूढ़ अवस्था ही उपलब्ध होती है। परम्परात्मक रंगतत्व उन्होंने लोकपरक साहित्य की भाँति ही स्वीकार किये। धार्मिक आंदोलनों और सात्विक जीवन दृष्टि के कारण उनका सौन्दर्य बोध व्यापक नहीं हो पाया। नाथसिद्धों की मान्यताओं को निर्गुणिये फक्कड़ों ने विकसित किया तथा प्रेममार्गी सूफियों के अनुयायी कुतबन, मंझन, जायसी आदि ने उसे अनहलक के रूप में स्वीकारा। पर इनकी दृष्टि धार्मिक सौन्दर्य

रह गई। अष्टछापियों एवं रामाश्रयियों की रचनाओं में भिन्न वर्णनात्म
अंशों के रंग-तत्व की मात्रा कम ही मिलती है। उत्तर मध्यकाल में री
काव्य की समृद्धि ने इस अवस्था को कुछ बदल दिया। घनानन्द, दे
पद्माकर, सेनापति और अन्य कुछ कवियों की रचनाओं में रंगतत्व होने प
भी विषय-वैविध्य के अभाव में उसे विकसित होने का अवसर नही मिला
जीवन का सुघड़ वैविध्य उनमें खुलकर रूपायित नही हुआ। मध्यकालीन का
में इस दृष्टि से सूर अलग लगते हैं। उनमें कांगड़ा कलम में रंगों का संगी
राजपूत शैली की लोकात्मकता और मुगल कलम के सुनहरी अथवा विशु
नीलाकाश, सर्पिले मेघ, मणि-माणिक्य की भांति बारीकी से बनाये गये पे
फूल-पत्तों की मिली जुली सौन्दर्य दृष्टि प्राप्त होती है। संयोजन की दृष्टि
सूर में रंगतत्व की उत्कृष्ट योजना मिलती है। परम्परा से हटकर सौन्द
की यह व्यञ्जना दूसरी अवस्था के रंग निरूपण को अधिक स्पष्ट करती है
यही से 'संयोजक' अवस्था का सिलसिला एक अलग धारा मे आगे बढ़ता है
जो छायावाद की आरम्भिक रचनाओ तक चला आता है। इसके समानान्त
संयोजक अवस्था का एक और सौन्दर्यपरक पक्ष है। रविवर्मा के चित्रो मे
जिस प्रकार पश्चिम की सूक्ष्म दृष्टि उत्प्रेरक हुई, कुछ उसी तरह की रचनात्मक
प्रतिक्रिया छायावाद की उत्कृष्ट स्थिति मे घटित हुई। यहाँ रंगतत्व का
'संयोजक' पक्ष अपेक्षाकृत वैज्ञानिक, परिष्कृत और प्रभावी सिद्ध हुआ।
फिर भी झिझक, धूमिल रेखाकन, अंधकारात्मक रंग-संयोजन, रूपाकारो
की स्त्रियोचित रूझान, ऊजड, दुर्बल और रिक्तात्मक थोथे संवेदनो का प्रभाव
बंगाल स्कूल की तरह छायावाद मे अधिक बना रहा।

'प्रसाद' और 'भारतीय आत्मा' के कोमल रंगो को बल मिला 'निराला' मे। 'निराला' को नन्दबाबू की कोटि मे स्वीकार किया जा सकता है। लोकोन्मुखी दृष्टि के साथ एक उत्कृष्ट गरिमा और पौरुष है दोनो मे। पंत ने हिन्दी कविता को रंगो के जादुई प्रभाव से भरा। उनमे जैसे रंगो की बारिश हुई। विविध रंग, भाति-भाति की कान्तियाँ और जीवन्त प्रकृति-चित्र उन्होंने पहली बार हिन्दी जगत को दिये। डॉ० नगेन्द्र ने पंतजी की इस विशेषता को सर्वप्रथम 'वीणा' के प्रकाशन के पश्चात् ही लक्ष्य किया। यद्यपि आरम्भ में उनके रंग 'धूमिल और श्वेतछाया' तथा 'धानी रेशमी' थे; क्योंकि उस समय उनकी कल्पना पंख फड़फड़ा रही थी। उधर महादेवी वर्मा का अन्तस स्वभावतः चित्र प्रिय रहा। यही कारण है कि उनके काव्य में वर्ण्य-वैचित्र्य अधिक खिला। इन्द्रधनुषी रंगो की चटक के साथ करुणा व्यञ्जक धुंधले रंग अलौकिक वातावरण की सृष्टि करते से लगते हैं। दुखवाद की पोषक सभी श्यामल रंगतें अन्य चटकीले रंगो के साथ इस क्रम से भरती हैं कि उनका प्रभाव करुणा की एक तीव्र व्यञ्जना मे बदल जाता है। प्री-

रैफेलाइट कवि– चित्रकारो की तरह महादेवी के कई प्रतीको मे रहस्यात्मक संकेत है। उनका धूमिल वातावरण क्रमशः घना होकर कल्पना का सबसे अधिक प्रभावशाली अंश बन जाता है। कही कही रंगो की उदात्त एवं परिष्कृत रुचि उनके काव्य को उत्कृष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है। बाद की कविताओं मे यह बात विशेषत लक्षित होती है।[1] इस क्रम मे डॉ० रामकुमार वर्मा के काव्य में श्यामलता, कुहासा और धुँधली रंगतो को शक्ति मिली। 'निराला' या महादेवी के 'संयोजक' अवस्था के रंगो की तुलना में इनके हल्के रंगाभासी बिम्ब एकदम भिन्न हैं।

छायावादी काव्य के रंग-संयोजन के सन्दर्भ में पंतजी की कविताओं में अनोखा वैशिष्ट्य है। कौसानी घाटी के चाय बागानों मे जन्म लेकर जिसकी आँखो ने हिमधवल शिखरो को लोहित और हेमल होते देखा, जिसने प्रकृति की मुग्ध गोद में वेमुरी भाषा के गीतो से मन की कल्पना को संजोया, वह रंगो के प्रति अपने पूर्ववर्ती कवियो की तरह संवेदन रहित क्यो कर हो सकता था ?

अपने पूर्ववर्ती कवियो से पंतजी को रगो की थाती नहीं मिली। द्विवेदी-युग की काव्य शैली इतिवृत्तात्मक थी। अत रंगो के वर्णन में ग्राह्य तत्वो मे सीधी रुचि का अभाव स्वाभाविक था। व्याकरण के नियम, छंदों के प्रयोग मे सावधानी, परिमार्जित भाषा-शैली का अभाव आदि कवियो के सौन्दर्य परिष्कार मे बाधक हुए। सम्पूर्ण द्विवेदीयुगीन काव्य मे रंगो का यह दारिद्रय खटकता है। यो तो द्विवेदी कालीन कविता के रैगिस्थान मे कही-कही 'ओसिस' भी है। बहुत ही कम रंगो का उपयोग श्रीधर पाठक के काव्य मे दीख पडता है। वह भी कदाचित् इसलिए कि पाठकजी स्वतन्त्रचेता एवं प्रकृति प्रेमी थे। पश्चिमी काव्य मे उनकी रुचि थी। उनके काव्य मे लाल और नीले रंगो के परम्परागत उल्लेखों के अलावा स्थिर चित्रो का आभास तथा कोमल तत्वो को स्थान मिला। इसी तरह भाषा के तनिक परिमार्जन और प्रयोगो के पश्चात् 'हरिऔध' की रचनाओ मे कुछ रंग कहीं-कही छिटके। सान्ध्य चित्रो मे लोहित अथवा लाल का उल्लेख उन्होंने सहज भाव से किया,

---

[1] लपटो का अंशुक ओढ यामिनी आई।
धुनकर तार कर लिये तूल से भीने
फिर बुने तार सित-श्याम चांदनी भीने,
चंदन बूँदो मे सजी सुरमई चूनर
पिघली ज्वाला के रंगो मे रंगवाई।

जो वस्तुतः परम्परा का ही अनुकरण है।[1] राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने अपनी एक रचना में अनेक रंगों की छटा एक ही स्थान पर प्रगट की।[2] नाम गिनाने की सोकरक प्रवृत्ति को उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों के अनुकरण पर ही स्वीकार किया। स्पष्ट है कि उनके समकालीन कवियों की रुचि 'नियो-ट्रेडिशनिस्ट' सी थी। चुगताई की तरह आंगिक विकृति (ऐनॉटामिकल डिस्टार्शन) अर्थात काव्य में निर्धारित छंदात्मकता और फार्म को बिगाड़ने का साहस उस समय किसी ने नहीं किया। किन्तु जिस तरह कांगड़ा कलम के रंग-संयोजन का प्रभाव चुग़ताई पर पड़ने पर भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्र शैली और रंग निरूपण का ढंग अलग तरह से विकसित किया, उसी तरह द्विवेदी युगीन कवियों ने कतिपय मध्य युगीन प्रभावों के होते हुए अपना निजी रूप सँवारा। उन्होंने रीतिकालीन अवशेषों से अपने को पूरी तरह से मुक्त कर लिया, जब कि चुगताई की कलम रीति कालीन काव्य विधा के अधिक निकट लगती है।

रंगों की विविधता के प्रति हिन्दी कवियों का ध्यान क्रमश. हटकर सूक्ष्मता की ओर गया। द्विवेदीजी के समय की रूढ़ता से पंतजी ऊपर उठे और उनके साथ ही छायावाद के कवियों में रोमैन्टिक सौन्दर्य दृष्टि विकसित हुई जिसका रंगतत्व के सन्दर्भ में विस्तार से विश्लेषण किया जा सकता है।

संवेदना, भावनात्मक प्रतिक्रिया और अनुभूति के अन्तर्ग्रन्थन (आर्गनिक इन्टीग्रेशन) का परिणाम है अभिव्यक्ति, जो अपनी प्रसूतावस्था (इन्स्पायर्ड स्टेट) में एक रूप ग्रहण करती है, और उसकी समग्रता अर्थवत्ता के साथ बिम्बों अथवा प्रतीकों में व्यक्त होती है। काव्य में रंगतत्व का निरूपण इस

---

[1] दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब राजति
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा

[2] धानी आसमानी गुलेंमानी मुलतानी
मूंगी संदली सिन्दूरी सुर्ख सोसनी सुहाए हैं,
कंजई कनैरी भूरे चंपई अंगोरी हरे
पिस्तई मंजीठी सुरमई घेरि आए हैं।
मासी नीलकंठी गुलनासी गुलनारी तूसी
कुसुमी कपासी रंग 'पूरन' दिखाए हैं।
नरंगी पियाजी पोसराजी गुलनारी घने
केसरी गुलाबी मुनारंगी मेघ छाए हैं।

प्रक्रिया से आबद्ध है। बाह्य सौन्दर्य की मर्मस्पर्शी प्रतिक्रिया रंगों के नामों और उनके उल्लेखों मात्र से नहीं होती। यहाँ कवि की वृत्तियाँ और काव्यगत क्षणों के विवेकात्मक रसाग्रह अधिक सबल होते हैं। नामों और संकेतों के आधार पाठक के लिए भी क्षीण हैं। उसके भीतर का व्यक्ति काव्य के अन्तर्निहित सौन्दर्य को निजी संवेदनाओं और अनुभूतियों के सन्दर्भ में ग्रहण करता है। यह सम्भव नहीं कि काव्य-स्रष्टा की अनुभूतियों के अनुरूप अथवा उसके बिम्बों की भाषा में पाठक समग्र सौन्दर्य, कथन और उसके अप्रकट सन्दर्भों को समझे ही। इस संक्रमण में पाठक की सम्पन्न रुचि पूरी तरह अपेक्षित है। एक प्रकार की प्रज्ञात्मक-अन्तर्दृष्टि (इन्टलेक्चुअल विजन) और ग्राह्य-क्षमता चाहिये, वही पाठक के लिए उपयुक्त है। फिर भी रचयिता और पाठक के चित्रों में एक-सा सामंजस्य नहीं हो सकता। दोनों के चित्र एक-दूसरे के निकट अवश्य हो सकते हैं।

रंगीन उपकरणों से कवि और परिष्कृत-रुचि-सम्पन्न पाठक एक प्रकार का आन्तरिक रोमांच अनुभव करते हैं। रचना-प्रक्रिया की चरम स्थिति में कवि कभी उत्साह, कभी आन्तरिक परितोष, कभी रोमानी वैचित्र्य अथवा वितृष्णा और कभी नैराश्य की अवस्था से गुजरता है। समस्त प्रक्रिया केवल मनोगत नहीं होती, शरीर में भी उतरा जाता है। फेरे (Fe'rc) ने इस दिशा में कई प्रयोगों के पश्चात् शारीरिक प्रक्रियाओं का एक विस्तृत आलेख तैयार किया है। कवि में यह शरीरगत अनुभूति कल्पना से भी उत्पन्न हो सकती है। किसी देखे हुए चित्र का आलोडन प्रत्यक्ष देखे चित्र-सा प्रतीत हो सकता है। इस स्थिति में वैयक्तिक रागानुभूति कल्पित यथार्थ पर अपना रंग चढ़ाती है। पूर्वापर सम्बन्ध यहाँ सचेत होकर कार्य करते हैं। व्यक्तिपरक सौन्दर्यज्ञान, उत्कृष्ट रुचि और संवेदन मिलजुलकर इसमें योग देते हैं। परीक्षण किया गया है कि शरीरगुण के माध्यम से रंगों की ओर आकर्षित होने वाले व्यक्तियों में सौन्दर्य की सूक्ष्मताओं को पहचानने की मात्रा कम होती है। क्योंकि स्फूर्तिदायक, उष्ण प्रकृतिवाले, शान्त अथवा शीतप्रधान रंग शरीर में अलग-अलग तरह से प्रतिक्रिया पैदा करते हैं। ऐसी स्थिति में आन्तरिक आनन्द का दबाव प्रभाव कम हो जाता है। स्फूर्ति और शान्त के क्षणिक प्रभाव की पूर्ति लाल और हरित वर्ण से पाकर व्यक्ति अनजाने ही उसी दिशा में आकृष्ट होता है। नैन के कारण उसे सम्पन्न हो सकती है। पूर्वाग्रहों की वजह से आकर्षण की सीमा का सीमित अथवा अमर्यादित होना स्वाभाविक होगा। प्रकृति की ओर झुकाव

उसे प्रायः हरित रंग की ओर आकर्षित करेगा।¹ इन सभी बातों के सन्दर्भ में वास्तविक रंग-तत्व का अध्ययन विविध मनोगत तथ्यों की विविध जानकारी उपलब्ध करा सकता है।

रंग-नियोजन में केवल रूपसाम्य या गुण साम्य ही पर्याप्त नहीं, प्रभाव साम्य भी अपेक्षित है। किसी बिम्ब, दृश्य या प्रकृत स्थिति का समय या निर्धारित चित्रण करते समय शब्दों का परिज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता। पर्तों के संतुलन और प्रभाव की अन्विति भी कवि के लिए आवश्यक है। चित्रकार के पास विविध रंग होने पर भी कृतित्व में चमत्कार लाने के लिए प्रयोग-संतुलन और संयोजन-विधा अपेक्षित होती है। कवि के लिए उसी तरह परिष्कृत दृष्टि के साथ बाह्य सौन्दर्य और उससे सम्बद्ध मनोगत 'एस्थेटिक' प्रतिक्रिया को शब्दों में रूपान्तरित करने की कलात्मक क्षमता जरूरी है। रूप योजना की दृष्टि से हिन्दी कविता का सिलसिला (पिछले कई वर्षों से) अभाव शून्य नहीं कहा जा सकता। कतिपय उदाहरण निसंदेह अपने आप में ठोस और उल्लेखनीय हो सकते हैं। 'निराला' में यही दृष्टि कहीं-कहीं अत्यन्त विराट होकर रंगों की गहराइयों में छवि पैदा करती है :

> यह सान्ध्य समय
> प्रलय का दृश्य भरता अम्बर
> पीताभ अग्निमय, ज्यों दुर्जय
> निर्धूम, निरभ्र दिगन्त प्रसार
> कर भस्मीभूत समस्त विश्व को एक शेष
> उड़ रही धूल नीचे अदृश्य हो रहा देश (वनबेला)

यह उद्धरण किसी कुशल चितेरे के 'लैन्डस्केप' से कम नहीं। काले, नीले और हरित रंगों की अपरोक्ष स्थिति के साथ प्रकाश की संयोजना (पीताभ-अग्निमय) इसमें आयी। रंगतत्व निरूपण की यह दूसरी स्थिति है, पर काफी परिष्कृत।

'संयोजक' अवस्था के साथ-साथ हिन्दी काव्य में प्राचीन रंगो की परम्परा निरन्तर मिलती रही। यद्यपि कुछ रंगो का चलन अब उठता देखा गया। कत्थई और नारंगी रंगो का प्रभाव, जो पुरातन का पोषक है हिन्दी कविता में अब कम ही लक्ष्य किया जाता है। नंदबाबू ने इन रंगों को जलीय माध्यम से कहीं-कहीं प्रयुक्त किया। पहाड़ी और राजपूत शैली के चित्रों में

---

¹ No white nor red was *ever seen*
So amorous as this lovely green.
... ...
A green thought in a green shade.
—*Andrew Marvell*

नेर, पत्ते, पुष्प आदि अलंकारिता में पूर्ण पाये जाते हैं। समकालीन काव्य में वही अलंकारिक शैली प्रतिबिम्बित हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक प्रायः रंगों का प्रयोग बाह्य-सौन्दर्य के सन्दर्भ में होता आया। बीच-बीच में संयोजक अवस्था के रंगों को महत्ता मिली। अमृता शेरगिल की तरह गाढ़े लाल और हरित रंगों को कुछ कवियों ने प्राचीन राजपूती चित्रों की भाँति व्यक्त किया। मातिसे की तरह कुछ ने कविता की परम्परात्मक रंग निरपेक्षता की धारा को एक ओर फेंककर संयोजन में मनोगत प्रभावों को भी प्रश्रय दिया।

कई उपकरण सुन्दर होकर भी काव्य के युगानुरूप स्तर और कवियों की दृष्टि से उपयोगी कम होते हैं। कविता में ऐसे उपकरणों का स्थान नगीना होता है। जो रंगतें हमारे दैनिक जीवन में लक्षित नहीं होतीं उन्हें अधिक समय तक काव्य में सहेजना कठिन सिद्ध हुआ। सामन्तीयुग के अनेक भड़कीले रंगों की संयोजना और पच्चीकारी कालान्तर में लुप्त हुई। काव्य में भी तदनुरूप यही हुआ। रीतिकालीन कविता और तदनन्तर छायावादी युग तक यही प्रवृत्ति बनी रही। चटकीले और धूमिल रंगों के आयामों से बँधी, परिवर्तित होती गई दृष्टि एवं उपकरणों की ग्राह्यता काल-सापेक्ष होते हुए भी, कभी-कभी कगारों से अलग हट जाती थी। संयोजक अवस्था के रंगों का काव्यगत अध्ययन इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है।

तीसरी अवस्था 'विशुद्ध' रंग नियोजन की है। कुछ अंशों में यह स्थिति छायावाद के उत्तरार्द्ध में पायी गयी। विशुद्ध अवस्था में छाया-प्रकाश की पद्धति नहीं रहती। बिम्बों के रंग सीधे-सीधे प्रयुक्त किये जाते हैं। रंगों के माध्यम से इनमें फार्म की नियोजना की जाती है। मातिसे के चित्रों अथवा परशिया के मिनिएचर चित्रों में यह क्रम बखूबी अवतरित हुआ। वस्तुतः इस अवस्था में रंग बिम्ब को चित्रात्मक रूप में व्यक्त कर पाने की क्षमता रखते हैं। नयी कविता के उदय तक हिन्दी काव्य में विशुद्ध रंग-तत्व की स्थिति को पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा। प्रगतिवादी काव्य में लक्षित विशुद्ध रंगतत्त्व का सम्बन्ध भविष्यवाद (फ्यूचरिज्म) या घनवाद के ढंग पर अधिकतर जीवन की विपण्ण अवस्था से रहा। यान्त्रिक सभ्यता की गत्यात्मकता को व्यक्त करने के लिए शक्ति-रेखाओं और सबल रंगों के प्रयोगों के साथ वस्तु के भीतर तक देखने की दृष्टि विकसित हुई। भविष्यवाद बीसवीं शताब्दी का कलागत विद्रोह था। इटली में पनपा और विदेशों तक फैला। यद्यपि काव्य में उद्भूत भविष्यवाद के पूर्व ही इग्लैंड में नेविन्सन (१८८१-१९४६ ई०) कारखानों की ओर मुड़ गया था। लुइगी रुस्सोली, गिनो सेवेरीना और पेन्तिलिस्त के नाम इस सन्दर्भ में लिए जा सकते हैं। प्रगतिवादी दर्शन से प्रभावित अनेक कवियों ने जहाँ इस सिद्धान्त का आश्रय लिया वहाँ रंगतत्त्व का खुलापन आया। चूंकि प्रगतिवाद विचार प्रधान आन्दोलन

था और उसके काव्य की एक दार्शनिक पृष्ठभूमि थी, इसलिए उसमें रंग-तत्त्व की उपलब्धि के ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। इस दशक की कुछ कविताओं में अप्रस्तुत विधान द्वारा काव्य में प्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता उत्पन्न की गई। उत्तर छायावादी काल की संयोजनात्मक शैली यहाँ आते-आते बिखर गयी। पंतजी के बाद रंगों के सौन्दर्य को व्यक्त करने वाले नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में इस बिखराव को अच्छी तरह से लक्ष्य किया जा सकता है। भारतभूषण अग्रवाल की आरम्भिक कविताओं में कुछ, कहीं कहीं अपेक्षाएँ थी, पर हास्य-व्यंग्यात्मक तथा वक्तव्यवादी प्रवृत्ति के विकास-क्रम में उनकी दृष्टि सौन्दर्य की उस जीवन्त शक्ति का अनुभव नहीं कर पायी। ऐसा लगता है, बाद की कविताओं में उनकी दृष्टि बूढ़ा गई या उसमें 'कलर ब्लाइंडनेस' सा कुछ आता गया। संयोजनात्मक रंग शैली का बिखराव बहुतों में देखा गया। पंत और निराला में रंगों की ओप जिस प्रकार आगे चलकर अन्य दिशा में मुड़ गई उसी प्रकार बहुत कुछ पहले 'सप्तक' के कवियों के साथ घटित हुआ। गिरजाकुमार माथुर अवश्य ही उस बिखराव से बच सके। अपने समसामयिक उन तमाम विविध रुचि-धर्मा कवियों के बीच वे अपनी पद्धति से हटे नहीं। शायद इसीलिए कि उनकी सौन्दर्य परक जिज्ञासा रंगारंग बनी रही।

रंग की चौथी अवस्था 'संवेदक' है, जिसका सम्बन्ध नयी कविता के सौन्दर्यबोध और उसकी अभिव्यञ्जनात्मक भंगिमा से है। चित्रकला के अनेक प्रायोगिक वादों से इसके आग्रह जुड़े हैं। एक समानधर्मा मनस्-चेतना और यथार्थ को मुक्तक्षणों की आस्था में देखने वाली सौन्दर्य दृष्टि दोनों में उपलब्ध है। इस नाते चौथी अवस्था के रंगों के सिलसिले में प्रभाववाद का उल्लेख आवश्यक लगता है।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रभाववाद का उदय यथातथ्य अंकन (नेचरलिज्म) और अभिव्यञ्जनावाद के बीच की स्थिति है। यह एक विशेष प्रकार की शैली है जो बिन्दु विनिर्मित (पॉइंटीलिस्टिक), रूपहीन आकृतियों में प्रति फलित हुई। इस पद्धति के कलाकारों ने एक अर्द्ध-वैज्ञानिक प्रभाववश रंगों की पूर्ववर्ती परम्परा से विद्रोह किया। इस वाद के अन्तर्गत दृश्यचित्रों के अंकन का सूत्रपात हुआ। सन् १८७४ में माने ने 'इम्प्रेशन-सेटिंग सन' तूलिका-मुक्त रंगों से बनाया था जिसका बहुत विरोध हुआ। रेनुआ, बेजील, डेगास, सिसली आदि ने बावजूद विरोध के जीवन के आखिर गलियों और नगरों की मर्मशीलता को चित्रित किया। १९ वीं शताब्दी का यह चित्रकलागत आन्दोलन बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में योरोप में साहित्य में लक्षित हुआ। वर्लेन तथा मार्सेल ने शब्दों के विशिष्ट संयोजन से शब्द में आंतरिक संवेगों की सृष्टि की। हिन्दी में प्रभाववाद सन् १९५० के बाद

स्थापित हुआ और अन्य बहुत कुछ अंशों में नयी कविता में देखा जा सकता है।

हिन्दी कविता में यह नयी दृष्टि अचानक नहीं आयी। कई मिले-जुले प्रभाव कवि दृष्टि को निखारते रहे। नये मूल्यों के भीतर संघर्ष और परिवेश के परिवर्तित होते हुए माहौल ने उसका एक नया वातायन खोला। दूसरे महायुद्ध के बाद औद्योगिक व्यवस्था में संघर्ष करके मध्यवर्ग ने एक भिन्न व्यक्तित्व पाया। आर्थिक दबावों में उसकी यह उपलब्धि नयी कविता और उसके पूर्ववर्ती काव्य मूल्यों के बदलने रूपों को उत्तरोत्तर. गति देती रही। जिस प्रकार छायावाद सामयिक परिस्थितियों के उपयुक्त था, उसी तरह नयी कविता का उपलब्धस्वरूप स्थानान्तरित वैचारिक संघर्ष और सजग रागात्मकता के कारण सम्भव हुआ। 'तार सप्तक' में मुक्तिबोध के वक्तव्य में उठाई गई 'स्थानान्तर गामी प्रवृत्ति' की आवश्यकता नयेपन ने स्वीकार की। वह वैचारिक क्षेत्र से उठकर बाहर तो आया, पर उतना ही सामाजिक होकर भी अतिवैयक्तिक होता गया। व्यक्तिकेन्द्र को दिग्-व्याप्ति बनाकर वह उतना ही अपने भीतर को ओर मुड़ा। फलतः काव्य-विधा पर नये मूल्यों की ऊष्मा के साथ व्यक्तित्व की सम्मूर्तन-प्रधान सौन्दर्य-चेतना, दमित कुंठाएँ, घुटन, आक्रोश और अपनी अभिव्यक्ति के प्रभाव आये। अनुभूति के विशिष्ट क्षण, भावचिंतना की रागात्मक घुमन और आधुनिक बाह्य के प्रति एन्द्री-यगत दृष्टि को इस काव्य में गति मिली। इन तमाम खूबियों के बीच बहुत कम ऐसी कविताएँ लिखी गई जिनके रंग उजली झलक देते है। 'तार सप्तक' के प्रकाशन के बाद चूँकि संवेदनात्मक रंगतत्त्व की स्थिति अपने पैर नहीं टिका पायी, इसलिए बाद के कवियों को यथार्थ सौन्दर्य दृष्टि का आधार नहीं मिला। प्रथम दो 'सप्तकों' के कुछ कवि नयी दृष्टि और दर्शन के बावजूद भी छायावाद की कुहासों से अपने को अलग नहीं कर पाये। जिन्होंने उस जाल को तोड़ा वे नये वातावरण में खिल गये। दूसरे सप्तक के कवियों में सबसे अधिक रंगतत्त्व का प्रभाव नरेश मेहता और धर्मवीर भारती में है। भारती के रंगों में ताजगी है। ऐसा लगता है मानो बिम्बों के लिए रंगों का चयन करते समय उन्होंने बिना किसी पूर्वापर प्रभावों के स्वयं ही अपने संवेदनों को खुले ब्रशों से आँका है। कुछ ऐसा ही निरूपण सर्वेश्वर दयाल सक्सेना में प्राप्त होता है

> लाल हरे फूलों वाला मखमली साँप
> लिपटा है गुलाब की पीली कली पर
> पैरों में जमीन पहने क्यारी है—
> जिसके ऊपर अधियारी मिली हुई सिन्दूरी संध्या की
> गहरी लाल सारी है।
>
> [संध्या का भ्रम]

नरेश मेहता के रंगों की मरिचिका गिरिजाकुमार माथुर से अधिक प्रयोजनीय, 'सेन्शुमग' और मौलिक लगती है। गिरिजाकुमार अपने भड़कीले रंगों के फैलाव के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। फिर भी कीटस् की 'सेन्शुअसनेस' और 'मिडिएवल' प्रभाव की पकड़ से वे बहुत बाद तक असम्पृक्त नहीं हो पाये। 'पृथिवी कल्प' में अवश्य ही उनका 'अप्रोच' आधुनिक है। उनका ध्यान प्राय 'परस्पेक्टिव्ह' की ओर रहा। 'परस्पेक्टिव्ह' (परिप्रेक्ष्य) चित्र-शिल्प सम्बन्धी शब्द है। साहित्य में यह विधा परम्परा से जुड़ी है, जब कि नयी कविता में 'फोकस' की विकृतियाँ मानस-चित्रों के परिपार्श्व मे परिप्रेक्ष्य को एक ओर कर देती है। चित्रकला के नये प्रयोग-क्षेत्र में चावड़ा, रामकिंकर, हुसैन आदि इस बन्धन को स्वीकार नही करते। गिरिजाकुमार मे इसका आग्रह उन चित्रकारो की तरह है जो आज भी रविवर्मा की शैली में सोचते हैं। यद्यपि 'नाश और निर्माण' के कुछ चित्रो में उन लेन्डस्केपों-सा आभास होता है जिनमें फैलाव कम, 'ब्रश स्ट्रोक' अधिक हैं। इनसे बिम्बो की समग्रता तो उभर आती है किन्तु अतीन्द्रियता-वश धूमिलता पीछा नहीं छोड़ती। नरेश कुमार में भी गिरिजाकुमार माथुर की तरह यह प्रभाव कुछ अंशो में मिल जाता है·

टेसू में तिथियाँ सब सुलग उठीं—
देवो के यश सा यह उजला दिन

नरेश मेहता की इन पंक्तियो मे यद्यपि रंग का कोई स्पष्ट उल्लेख नही, तथापि अर्थ-जन्य चित्र मे अंगारो से दहकते टेसू की लौ का रंग मन पर छा जाता है। इस सन्दर्भ मे प्रायोगिक हिन्दी कविता के सौन्दर्य-बोध में निहित रंग-तत्व निरूपण की यह शैली सामयिक चित्रकारो की रचना-प्रक्रिया एवं व्यक्तिपरक संवेदनाओ से सम्बन्धित लगती है। उसके भी आयाम और विषयगत 'अप्रोच' अपनी अतिवैयक्तिक-चेतना की विभाओ से जुड़े हैं। परिणामतः नि.सृत रचनाओ की भावभूमि तथा शैली और शिल्प परम्परा से हटकर लगते हैं। उनके साथ संगति बैठाना कठिन प्रतीत होता है। कठिन इसलिए कि समग्र रचना-प्रक्रिया एक दम भिन्न होती है, क्योंकि आधुनिक चित्रकारो की तरह नये युग का कवि वृत्ति-धर्मा होता है। और यह भी सच है कि रंगों की विविध भावभूमियाँ विशिष्ट वर्ग ही अनुभव कर पाता है। रूढिवादी एवं पूर्वाग्रही व्यक्तियो की पकड़ कविमन के चेतन-अवचेतन के अनुभूत सत्य तक नही होती। क्योकि काव्य मे रंगतत्व निरूपण की स्थिति कवि की रुचि और सौन्दर्य बोध के स्तर से सम्पृक्त होती है। उसे हम प्रत्यय-वाद के

'दृक्श्रव्यप्रदीय' प्रणाली (Verbi—Voco—method) के अधिक निकट पाते है। चित्रमयता ही जिसकी रुझान नही, बल्कि शब्दों के अनेक ग्राह्य अर्थ और उनमे निहित सन्दर्भों से सम्बन्धित अनेक नये शब्द नवकाव्य विधा की सीमा मे अधुनातन सौन्दर्य बोध और तत्सम्बंधी जिज्ञासा को प्रगट करते हैं। प्रबुद्ध एवं रुचि-सम्पन्न पाठक उन्हे अपनी पूर्वापर रागात्मिका के अनुसार ग्रहण करता है।

उपचेतन मन के रंग चेतन रंगो से भिन्न होते हैं। इस दृष्टि से चित्रकला मे भी वास्तविक रंगो की स्थिति कभी भी सम्भव नही हुई। टर्नर और इम्प्रेशनिस्ट चित्रकारो के प्रयोग प्रमाणित करते हैं कि वास्तविक रंगो को व्यक्त करना अत्याधिक कठिन है क्योंकि चित्रित वस्तु के रंग और प्रकृति मे दिखाई देने वाले रंगो मे बड़ा फर्क होता है। साधारणतया दृष्यमान रंगो की भांति कवि के अन्तर्मन मे रंगो की उपज नही होती, न ही वे शब्द होते हैं जिनमे दृष्यमान वस्तु के वर्णों का ठीक-ठीक बोध हो सके। ऐसे रंगो का जिक्र करने के लिए सीधे-सीधे शब्दो से भिन्न कई और शब्द होते हैं जिनका अपरोक्ष रूप मे कविमन के भीतर चित्रो और बिम्बो से सम्बन्ध होता है। इन रंगों पर व्यक्तित्व का आरोप और शिल्प मे वही प्रवृत्ति कार्य करती है जो आधुनिक चित्रकला मे है। रविवर्मा के रंगचित्रण में पश्चिम की यथार्थवादी शैली, सीधे-सीधे छाया प्रकाश वाले मानव-चित्र और उपकरण आज की नयी दृष्टि स्वीकार नही करती। यो तो उसकी सराहना करने वाले रूढ़िविश्वासी आज भी हैं। वैसे ही बुजुर्ग आलोचको (?) ने नयी कविता के सौन्दर्य बोध को 'अनिश्चित मानसिक स्थिति' की उपज अथवा 'काव्य की वास्तविक भावभूमि पर पहुँचने मे अक्षम' कहा है। यह आरोप शायद इसलिए लगाया गया कि नये कवि मन के स्रोत पर जो बिम्ब और चित्र आये वे परम्परा सम्मत न थे। उनकी दृष्टि उस चित्रकार की तरह रही जो पिकासो की स्थिति मे सोचता है अथवा फ्रान्स के रिम्बो* की दृष्टि से देखता है। रिम्बो का प्रभाव आगे चलकर जर्मनी के रिल्के, इंग्लैंड के ईलियट और अमेरिका के यूजीन–ओ–नील पर भी पड़ा। क्या इस तरह का प्रभाव अनजाने ही 'अभिनव काव्य' की भाषा और शब्दों मे बद्ध रंग-बिम्बो पर नहीं

---

* १६ वी शताब्दी के अंतिम चरण मे रिम्बो ने प्रतीकवादी काव्य मूल्यो की स्थापना के पूर्व ही कुछ दावे किये थे, जिनका काव्यगत रंगतत्व से प्रमुख सम्बन्ध है : "सभी प्रकार के इन्द्रजाल मे मेरा विश्वास है। मैंने विभिन्न स्वरो के रंगो का आविष्कार किया है : 'ए' का रंग काला है, 'ई' का रंग श्वेत, 'आई' का रंग लाल, 'ओ' का रंग नीला और 'यू' का रंग हरा और काव्योचित भाषा की सृष्टि की है, ऐसा मेरा दावा है।"

दीगता ? भौर, नयी कविता की भाषा में नये बिम्बों के संवहन की भंगिमा पायी। परम्परानुमोदित रंगतत्व को अपदस्थ करके उसने लोक-प्रचलित रंगरूपों को स्वीकारा। रूढ़ अर्थवत्ता के जाल को उतार फेंका और शब्दार्थ की आन्तरिक शक्ति पर आधृत सौन्दर्य बोध के नये क्षेत्र विकसित किये। उसके प्रयोग शिल्प में समकालीन चित्रकलागत प्रवृत्तियों-सी भंगिमा आई। कथन में वही दृढ़ता, सिपाई और विघटित शिल्प देखा गया। वही तिक्तता और विषयगत वैविध्य दोनों में लक्षित हुआ।

पिकासो की स्थिति का हम जिक्र कर रहे थे। हिन्दी कविता में उसके उदाहरण सन् १९५५ के बाद की रचनाओं में मिलते हैं। इस सन्दर्भ में छोटी कविताओं की चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा। रंगों की दृष्टि से ऐसी कविताएँ प्रतिक्रियात्मक 'स्ट्रोक्स' जैसी लगती हैं। उनके सौन्दर्य बोध में— विद्रूप, कुंठा और आक्रोश के अलावा रंगों की धुंधली, संवेदक छाया दृष्टिगत होती है। जापानी काव्य के हाइकू (होक्कू), टोटकू या रेंगा आदि कम पंक्तियों वाले छंदों में सौन्दर्य की यह क्षमता द्रष्टव्य है। 'अज्ञेय' द्वारा किये गये जापानी कविताओं के कुछ भावानुवादों में बिम्ब देखिए.

उगता चांद, डूबता सूरज
बीच भील सी
पीली सरसों फूली — (बूसोन्)

लम्बी पीली धूप
डरौने की परछाही
नाप रही सूनी पगडण्डी — (शेपा)

चांद चितेरा
आंक रहा है शारद नभ में
एक चीड का खाका — (रासेत्सू)

चित्रकला में रंगों की छटा भाव और वर्ण्यवस्तु के सुसम्बद्ध नियोजन में सहायक होती है। काव्य में वे ही रंग शब्दों के माध्यम से गत्यात्मक दृश्यों, 'इमेज' और अमूर्त बिम्बों की संयोजना करते हैं। काव्य विधा में बिम्बगत समग्रता लाने के लिए चित्रकला की अपेक्षा अधिक सुविधा है। इसलिए काव्य में रंग अधिक मुखर होते हैं। क्योंकि शब्दों के बाह्य अर्थ के साथ स्रष्टा और पाठक दोनों ही वैयक्तिक प्रतिक्रिया, आन्तरिक सम्पूर्तन, निजी सन्दर्भ और सौन्दर्य बोध के सहारे उन्हें आत्म सात करते हैं। रंग चित्रकला में पदार्थगत विषय हैं, पर रंगों की सीमाएँ काव्य में बाधक नहीं होतीं। काव्य में उनका रूप अन्य सन्दर्भों के साथ जुड़ जाता है। चित्रकला की तरह उनमें विभिन्न रंगीय सारस्य का भास होता है। वे बिम्ब उत्पन्न करते हैं और

अपने प्रभाव को रंग, लक्षणा और अर्थ के सन्दर्भ में पदार्थगत वृत्त से कहीं ज्यादा व्यापक क्षेत्र में ले जाते हैं। इन प्रभावों को कवि न केवल दृश्यगत उपकरणों में ही, बल्कि अवचेतन मन स्थिति, कम्पन, प्रकृत स्वर, नाद और प्रकाश, आधुनिक जीवन की ऊष्मा और गंध में भी अनुभव करता है। अनुभव के स्तर वैयक्तिक हो सकते हैं। वेलमेन ने रंग और उनसे सम्बन्धित भावात्मक प्रभावों का अध्ययन करके एक तालिका बनायी, जिसका उपयोग काव्यगत रंगतत्व का परीक्षण करते समय सम्भव हो सकता है। इस तालिका में परिवर्द्धन और कुछ सुधार किये जा सकते हैं। मूल तालिका इस प्रकार है (पृष्ठ ९६ पर)।

रंगों के प्रति हिन्दी कवियों का दृष्टिकोण अब परम्परागत नहीं रहा। प्राचीन काव्य में रंगों का गाढ़ापन और रंगतों (Shades) की संख्या बहुत कम पायी जाती है। 'सूचक' और 'संयोजक' अवस्था में रंगों की परम्परा यात्राएँ करती रही। ज्यों-ज्यों दृश्य चेतना तीव्र और छाया प्रकाश के नियोजन में उत्पन्न सुसंस्कृत मानसिक प्रक्रियाओं में विकास होता गया, रंगतों की संख्या बढ़ी। कोमल रंगतें आधुनिक कविता में अधिक उभरीं। सादृश्य का सिद्धान्त स्वीकार करते ही स्पर्श और गंध की चेतना का संयोग काव्य में हो गया

> तुम्हारी साड़ी – सी
> शाम। बहुत परिचित।
> ओ, ओ
> मेरे दिल के अजीब फैलाव सी
> लातीनी पीतल-कांसे के घण्टों की-सी
> क्लासिक।
> शाम।
> बहुत दूरतक बजती हुई शाम।
> धीरे, धीरे
>
> [शमशेर बहादुर सिंह शाम]

> जैसे डबडबाते पर्वती बादल
> पहाड़ी झील के मरकत – हरे जल पर
> तुम्हारी देह के प्रति
> अंगता महसूस करता हूँ —
> कि उन मन्थी मलल उँचाइयों में तिमिर
> रुई की तरह
> आराम से उस नर्म कुहरे पर उतर आऊँ
>
> [कुँवर नारायण : पहाड़ी झील]

हिन्दी की कई कविताओं मे कोमल रंग और रंगतें गुम्फित हैं। प्राचीन काव्य में ये ही रंग सीधे-सीधे व्यक्त हुए और आदिम जिज्ञासा की वजह से नयी कविता के कुछ कोयेरे चित्रो मे भी अनुभव किये गये। रंगो के संकेतो का एक दूसरा पक्ष साहश्य-उल्लेख तक सीमित है :

> गोल पीन मद्दे प्याले मे
> मार्गरिट ऐसे हँसती है जैसे मोनालिसा हँसी थी
> चित्रकार डा-विंची सुन्दर 'कन्वस' पर
>
> क्यूबिस्ट मत चित्रकला सी सीधी सीधी ज्यामिति रूपा
> नंगी गलियाँ, कही उजाला
> कही अँधेरा,—बड़े बडे 'टिन' के तख्तो पर
> विज्ञापन है—,
>
> [अनन्त कुमार पाषाण बम्बई की शाम]

उक्त पंक्तियो मे चित्रकला के वाद और मोनालिसा की चित्रबद्ध हँसी मात्र का उल्लेख है। जानकारी के अभाव मे पाठक शायद इनका प्रभाव ग्रहण नही कर सकता जब तक कि उसकी रुझान चित्रकला मे न हो।

कपोताभ और धूमच्छाय रंगो का प्रयोग छायावाद मे आरम्भ हो गया था। मासोजी और कुमरिल की भाति आधुनिक चित्रो में प्रयुक्त ये रंग फिर लौटकर प्रायोगिक काव्य मे भी निखरे। इनसे शान्त भाव का उद्रेक होता है। मध्यकालीन भावदृष्टि से हटकर रंगो की मरिचिका आधुनिक काव्य मे, वेलमेन की तालिका के सन्दर्भ मे, अधिक संवेदनात्मक होती गई।

लोक जीवन की ताजगी का स्पर्श काफी पहले नन्दबाबू ने अपने 'मंजीरा वाला' और 'ढोलक वाला' शीर्षक चित्रो मे किया। पर काव्य मे ग्रामीण रंगो की यह ऊष्मा 'यूवक' अवस्था के रंगो को नये मालोक मे प्रतिष्ठित करती दिखाई देती है। हिन्दी कविता मे इस नये घुमाव को बहुत कम जगह मिली। एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् 'वनपाखी सुनो' मे नरेश मेहता ने मालवा के रंगो को समेटने का प्रयत्न किया। उनमे रंगतत्व की उजली घटक उभरती है तथा अधिकांश रचनाओ मे रंगो के परिष्कृत 'मोडम' और यथोचित साहश्य, रेशमी रंगो का निखार, स्पर्शजन्य अनुभूति की सृष्टि करता-सा वातावरण है। उनमे एक मिला-जुला बिम्ब-सम्मुच्चय, जिसमे कई तरह के रंग, रंगतें और विशुद्ध वर्णो के छिटके प्रभाव तथा ताजे 'स्ट्रोक्स' हैं।

मेहता के अतिरिक्त कुछ कमजोर स्थिति में यही ताज़गी हरि व्यास में प्राप्त है।

आधुनिक कविता की कुछ रंगतें एकदम नयी हैं। प्रचलित रंगों के अलावा अन्य कई रंगतें यांत्रिक जीवन ने क्रमश: कविताओं में दीं। चित्रकर्म की दृष्टि से प्रयुक्त मूलगत रंगानुभूति (कलर सेन्सेशन), बल (वैल्यू), घनत्व (इन्टेन्सीटी), गति (रिद्म) और संगति को कविता में क्रमशः मिल जुलकर स्थान मिला। रंगानुभूति एक कलात्मक गुण है जो काव्य के सौन्दर्य के लिए जरूरी है। 'कलर सेन्सेशन' के इन दो उदाहरणों में यह अनुभूति देखिए :

सूरज से नहाये हुए
नीले कमल-सा यह चैत का नशीला दिन
मैंने बिताया नहीं।

[भारती चैत का एक दिन

कमल फानूस, रातें मोतियों की डाल
दिन में
सुर्मई नीली रंगीली तारकों की छाप लेकर
तितलियों की बुँदकियाँ भी साड़ियों के-से नमूने
चमन में उड़ते छबीले .....

[शमशेरबहादुर सिंह]

शमशेर बहादुरसिंह के रंग अधिक इन्द्रियगत हैं। मुक्तिबोध ने शायद इसीलिए शमशेर की मूल प्रवृत्ति को इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की मानी है।

चित्रकला में रंगों द्वारा 'ल्यूमिनोसिटी' उत्पन्न करने के लिए पीला रंग प्रयोग में लाया जाता है। पीले में प्रकाश अधिक है। हरी घास पर सूर्य-प्रकाश यदि पीताभ नजर आये तो चित्रकार उसे वैसी ही रंगत प्रदान करेगा। यहाँ विघटन और मनःस्थिति के रंग भिन्न हो सकते हैं। उस स्थिति में कैन-वास पर जो रंग उतरेंगे वे वस्तु के अपने रंग न भी हो सकते हैं। एक दूसरी स्थिति संतुलन की है। दृश्यगत वस्तु या बिम्ब में कई रंगों के बीच कुछ ऐसे रंग होते हैं जिन्हें हम छोड़ना नहीं चाहते। ऐसे रंग हल्के हुए तो उनके आसपास अन्य रंग गहरे और विरोधसूचक हों। पीली सरसों का जिक्र है, उसे उभारने के लिए बिम्ब में अन्य रंग गहरे न हों बल्कि धूसर वातावरण का फैलाव हो या एक कली को दृष्टि में बनाए रखने के लिए उसके निकट के 'ऑब्जेक्ट' भड़कीले नहीं हों। अप्रासंगिक न होगा कि महादेवी या पंत में संतुलन की यह सजगता उपलब्ध है। नयी कविता में विघटित बिम्बों के कारण संतुलन का अंदाज और भी जरूरी हो गया। [illegible] कवियों का झुकाव यों तो अनेक तरह से स्पष्ट है कि

पक्ष और मजगता के अभाव मे कहीं-कहीं असंगति भी एक हद तक अखरने लगती है। ऐसा लगता है आज भी हमारे कई कवि 'कलरब्लाइंड' हैं। पूर्ववर्ती कवियो का उल्लेख करना यहाँ उपयुक्त न होगा, क्योंकि वह एक लम्बा सिलसिला है।

रंगो की मृदुता, संवेदनशीलता और खुशगवार प्रभाव की रक्षा रंगों के कतिपय सन्तुलन सिद्धान्त ध्यान मे रखने से हो सकती है। इ० क्नुप्रो ने प्रयोगो के पश्चात् जो सिद्धान्त बनाये उनका गणित की भांति प्रयोग सम्भव नही, फिर भी काव्यगत प्रभाव की उत्कृष्टता के लिए उनकी उपादेयता हो सकती है।

कवि समय के अनुसार जो रंग रूढ होकर बहुत दिनो तक कविता में बने रहे, उन्हें छायावाद ने बदल दिया। छायावाद मे ही हिन्दी कविता मे कई तरह के रंग आये। नयी कविता के मूल मे समाजशास्त्रीय दृष्टि के समानान्तर एक गहरी सम्पृक्ति उपजी। इसी कारण प्रयोगो मे भेदग् लक्षित हुए। रंगो की सुचारु संगति, वैविध्य, गति, घनत्व, बल और संयोजन सभी कवि के बाह्य निरीक्षण और आन्तरिक प्रक्रिया पर निर्भर करते हैं। हिन्दी की आधुनिक कविता किन्ही मानो में इस नाते उपादेय है। यह सिलसिला 'प्रारम्भ' (१९६३) मे आकर और भी परिष्कृत लगता है। रंगो का 'कन्ट्रास्ट' - सूचक आस्टवाल्ट - वृत्त बारीक नजर मे देखें तो कविता में भी काम करता है। यह वृत्त मनोविज्ञान पर आधृत है। इसमे अनेक रंगतें सम्मिलित की जा सकती हैं। वैसे आठ रंगो के निम्नवृत्त मे प्रत्येक रंग के साथ मिश्रण से तीन - तीन रंगतें प्राप्त करने पर कुल चौबीस रंगतें बनती हैं, जो और भी अधिक हो सकती हैं।

डब्लू० एम० हंट के अनुसार अनेक रंगतो की आपाधापी रंगो को उत्तप्त करती है — 'दी स्ट्रगल ऑफ वन ह्यू विद् एनादर गिव्हज कलर'। केवल एक ही संकेत से रंग की समग्रता सामने नही आती। रंगो को एक दूसरे का थोड़ा सहारा चाहिए। उस के अनुसार मन को प्रभावित करने वाले रंग समूह विच ने प्रयोग करके निर्धारित किये हैं। उन्हें कुछ सन्दर्भो मे, काव्यगत क्षेत्र मे, एक नये स्तर से परखा जा सकता है। चित्रकला के सीमित रंगो की अपेक्षा काव्य मे शब्दो के प्रभाव से असंख्य मिश्ररंगो की चमक अनुभव की जाती है। देशज शब्दों मे सैकडो रंगो और रंगतो के लिए उपयुक्त नाम हैं। नयी कविता मे उन्हें कहीं-कहीं जो स्थान मिले उनमे काव्य के लक्ष्य की पूर्ति ही हुई। अतः इस दिशा मे और भी अधिक संवेदनशील एवं सजग होने की अपेक्षा है।

संस्कृत साहित्य की अपेक्षा अपभ्रंश काव्य के रंग अधिक आत्मीय लगेंगे। मध्यकालीन कविता मे जहाँ भी स्वाभाविक चित्रण सम्भव हुआ वहाँ

रंगों ने अपना असर दिखाया। छायावाद में रंग खिले। उनमें ऐन्द्रियता आयी। .... एक लम्बा इतिहास है इन रंगों का। हिन्दी कविता की नयी उपलब्धियों ने इस तत्व निरूपण में अभूतपूर्व योग दिया। ऐसा लगता है जो वैचित्र्य, वैविध्य, और अभिव्यक्ति का एकदम अलग संवेदक पक्ष चित्रकला के अधुनातन प्रयोगों में आया, वह नयी कविता में सहज ही प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, संवेदक स्थिति के रंगनियोजन के अन्तर्गत रंगात्मकश्रवण (कलर हीयरिंग) के भी बिम्ब शमशेर बहादुर, अशोक वाजपेयी, जगदीश चतुर्वेदी और शान्ता सिन्हा में लक्ष्य किये गये। स्वर-माधुर्य,और ध्वनि के अपरोक्ष प्रभाव काव्य बिम्बों में कई तरह उपलब्ध हुए। इनमें कुछ अच्छे हैं, कुछ विकृत। वैयक्तिक रुचि और कल्पना से अधिक सम्पृक्त इसके कुछ उदाहरण हैं:

कैना, गुलाबी ब्लाउजें, कि
लाल–
वासन्ती रेशम पे लाल छींट,
या साँस जैसे सुन्दर गले की
साकार
किसी के सुन्दर हृदय में.........

[शमशेर बहादुर: लिपटी संगीत में सब चीजें]

खिड़की से एक पीला गुलाब
रह रह कर टकराता रहा..

[अशोक वाजपेयी' अलीअकबरखा का सरोद-वादन]

नयी कविता में रंगतत्व की एक भिन्न स्थिति है। 'संवेदक' अवस्था के अन्तर्गत होकर भी उसमें अलग व्यक्तित्व है। उसमें गत्यात्मक अन्वेषक की दृष्टि है। असंतृप्ति, अतिरेक, विलक्षणता तथा कथन की सामान्य विसंगति का मिलाजुला प्रभाव, सम्पूर्ण रचना के विघटित बिम्बों में मिलता है। चाहे वह शमशेर बहादुर की गत्यात्मक ज्यामितिक दृष्टि का विचारमय प्रयास हो, चाहे कुँवरनारायण के काल्पनिक, खंडचित्रों की गति। चाहे विपिनकुमार की कविताओं में प्रगट सहजबोध की विसंगतियों के वैचित्र्यपूर्ण आयाम अथवा जगदीश गुप्त की विघटित सौन्दर्य दृष्टि– बात वही है जो किसी समय गोया (१७४६-१८२८), कॉन्स्टेबुल (१७७६-१८३७), गेजो, गोगाँ, वॉनगो, मातिसे, पिकासो आदि के चित्रगत रंगों में देखी गई और यही बात प्रयोग के अनेक संघर्ष झेलते हुए मनोज मुखर्जी, कृष्णा हैबर, चावड़ा, आरा, रजा, रामकुमार अथवा 'ग्रुप १८९०' के कलाकारों में देखी गई। पिकासो के क्यूबिज्म (पिकासो ने १९०७ में अपना क्यूबिक चित्र बनाया था) तथा ब्राक, वासकी जान मीरो, ब्रेक, अर्नेस्ट आदि एब्स्ट्रे—

दृष्टि रखने वाले पाश्चात्य चित्रकारों की कृतियो में वही बात बनी रही जो वर्षो बाद पश्चिम के कवियो मे आई और वही भारतीय चित्रकला के आधुनिक प्रयोगो के साथ हिन्दी कविता मे लक्षित हुई। जितेन दे (विजिलेन्स), विमलदास गुप्त (दी ब्रिज), वेन्द्रे (स्ट्रीट लाइट्स), गाडे (ब्लू वाल), जार्ज कीट (टू वूमन) आदि कलाकारो के चित्र तथाकथित नयी कविता के बहुत निकट लगते हैं। अधुनातन कविताओ मे यही सामंजस्य कही अधिक है। तो भी इस चर्चा मे हम इस बात को विस्मृत नही कर सकते कि जामिनीराय की अनुरूपता ठाकुरप्रसाद सिंह मे अथवा आरा की लक्ष्मीकान्त वर्मा मे तथा स्वेतस्लाव रोरिच-सी संतुलित आधुनिकता 'अज्ञेय' मे है।

•••

शमशेर की कविताओं को पढ़ कर लगता है कि केवल उनका व्यक्ति[illegible] [illegible] है [illegible] विभक्त हो अंतर्विरोधों को मानो [illegible] में गया है। [illegible] [illegible] [illegible], 'कुछ कविताएँ' (१९५९) और 'कुछ और कविताएँ' (१९६१) संकलनों में प्रकाशित, लगभग [illegible] रचनाएँ शमशेर की [illegible] के [illegible] को [illegible] नहीं [illegible] में [illegible] करती हैं। उन पर लिखे गए लेखों में काफी कुछ कहा गया है। कुछ में कविताओं से अधिक कविताओं के [illegible] की चर्चा की गयी। उन संदर्भों का [illegible] गया। (उदाहरण 'कृति', अक्तूबर, १९५८ में प्रकाशित गजानन माधव मुक्तिबोध और मलयज [illegible] के लेख।) [illegible] और [illegible] भी [illegible]। ['कल्पना' ([illegible]) में [illegible] का लेख और 'माध्यम' में प्रकाशित [illegible] का विवेचन।] कुल मिलाकर परिणाम यह हुआ कि शमशेर के [illegible] व्यक्तित्व को जो रूप प्राप्त हुआ वह वास्तविकता से काफी भिन्न हो गया।

वस्तुतः शमशेर एक सीधा-सादा प्रेमी व्यक्ति है, पर उसकी काव्यात्मक-प्रक्रिया तनिक भी सहज नहीं लगती। उसकी काव्यानुभूति की संरचना अंतर्विरोधों की भूमिका पर आधृत है जहाँ भीतर ही भीतर कई चक्र हैं, सिलसिले प्रेम की पीड़ा है, आहों का धुंधलका, व्याकुलता, छटपटाहट और निषेधात्मक उपलब्धियाँ हैं। शमशेर ने क्या नहीं लिखा—गजलें, मुक्तक, गीत, काव्य-गद्य, व्यक्तियों की स्मृति में काव्यांजलियाँ, शहीदों की बरसी पर कविताएँ, प्रशस्तियाँ, सिफली, शादी के मौके पर कहे जाने वाले शेर, लोकगीत की शैली में गीत, रुबाइयाँ, राजनयिक कविताएँ, मार्क्सवाद से उठ कर शमशेरीय ढंग की रचनाएं, भावचित्र, आदि ? जब कि इतने व्यापक कैनवास के होते हुए भी शमशेर के पास कहने के लिए बहुत कम है। एक ही तरह का सिलसिला कई कविताओं में फलता हुआ जान पड़ता है। लगता है, साही की बात ठीक है : "शमशेर ने एक ही कविता बार-बार लिखी है।" दरअसल शमशेर बड़ी साँसत में है। उसे 'चिनक-चिनक कर मीठा दर्द-सा होता रहता है।' वह एक 'धुँधली बादल रेखा पर टिका हुआ' है, अनिश्चय की हालत में, नकारात्मक मुद्रा में, बहुत ही सहमे हुए समर्पित भाव से

होश मे सम्हल कर
फिर गिरा
मर्माहत आदर्शों के स्यन पर
अस्थिर मैं तम घिरा।

(जिंदगी का प्यार : 'कुछ और कविताएँ,' पृ० ४६)

यह स्थिति शमशेर के संतुलन को हिला देती है। उसकी साफगोई स्वयं इस प्रक्रिया मे अजीब तरह से पेश आती है। उसका सामाजिक दायित्व यहाँ विलुप्त होता जान पडता है। शमशेर की व्यंजना इस स्थिति में धुँधली रातों और 'छायाओं की मेहराबो' के नजदीक चली आती है। शाम, आसमान, गुलाब और चाँदनी की दुनिया में बंद होती नशीली पलकों, अधखुली अँगड़ाइयों, सुरमई गहराइयों और गद्य के आलम में भटक कर उसका निनान प्रेमी व्यक्तित्व रोमाटिक छायावादियो की शक्ल में उभर कर सामने आता है (गोकि शमशेर अनेक अंशो में वैचारिक और शिल्प दोनो दृष्टियो से छायावादी नही है)। उपलब्धियो का संबंध तब न तो प्रतीको से रहता है, न बौद्धिक संचेतना से। उसकी 'र्‌हेटॅरिक या छंदोबद्ध पत्रकारिता' बिना किसी फार्म या शैली की सजगता के अपने निजी तरीके से काम करती है। बल्कि इस घुलन-बिन्दु पर शमशेर अनायास ही महादेवी वर्मा के-से दर्द को व्यक्त करता जान पडता है। भाषा भी वहाँ अनुगामिनी हो जाती है ("भेद उषा ने दिये सब खोल। हृदय के कुल भाव। रात्रि के, अनमोल")। उसमें नयापन नही रहता। 'घनीभूत पीडा' (—'कुछ कविताएँ', पृ०४६) के साथ जो तीन रेखाचित्र दिये हैं, वे वस्तुत शमशेर के अवचेतन में बैठी महादेवी के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। धूमिल चित्रशैली के इर्दगिर्द उसका मानस बेचैनी से घूमता है। इस संदर्भ में शमशेर के देखने की क्रिया बिम्बो तक नही, बल्कि उनमें खुद को मिला देने के आग्रह तक पहुँचती है। उसे छायावाद के किनारो तक वह खीच लेती है, जहाँ वह ऐसी भाषा का उपयोग करता है जिसे उत्तर छायावादियों ने छोड दिया था

स्वप्न-जड़ित-मुद्रामयि
शिथिल-करण !
हरो मोह-ताप, समुद
स्मर-उर वर
हरो मोह-ताप—
और और कम उभर,

(एक मुद्रा से 'कुछ और कविताएँ', पृ० ५८)

शमशेर का संयम (?), जैसा कि स्वयं उसने कहा है, 'सचाई का अपना काम कर' नही रख पाता। 'अभिव्यक्ति अपनी ओर से सच्ची हो, यही

[illegible] रहा। (—भूमिका: कुछ और कविताएं) । [illegible]
होता नही। शमशेर स्वयं ही अपनी विडंबना के कारण गफलत में पड़ जाता है।

एक और बात। नामवर सिह की बात मुझे जंचती नही कि 'शमशेर का अनुशासन नयी कविता में आदर्श है।' वह शायद कभी रहा ही नहीं। विकासोन्मुख कविता के लिए किसी के आदर्श स्थायी नही होते। आज जब कि 'नयी कविता' परिपक्व स्थिति से गुजरती हुई अपने कथ्य और शिल्प में दुहराती जा रही है, तब यह परख लेना और भी सरल हो जाता है कि शमशेर का हिंदी की 'नयी कविता' पर क्या प्रभाव रहा। 'अज्ञेय' की उपलब्धियो के साथ शमशेर को ले आना और भी गलत होगा; क्योंकि शमशेर की 'चित्रकल्पी प्रतिभा' इतनी अधिक परिष्कृत नही लगती कि जहां शब्द अपरूप हो कर ध्वनियो मे अर्थ देने लगे। खुद शमशेर का कहना है: "मेरी रुझान ज्यादातर बिलकुल अपनी अकेली दुनिया के अंदर खिचते चले जाने की तरफ रही है" (—दूसरा सप्ताह)। और प्रकट है, शमशेर ने स्वयं ही स्वीकारा है कि उसमे 'उलझे हुए भावो को लिये हुए सपनों की-सी चित्रकारी है' (—दूसरा सप्तक)। काव्य का यह पक्ष आज से बीस-पच्चीस वर्ष पहले भले ही चौंका देता रहा हो, वर्तमान मे उसका अर्थ मात्र ऐतिहासिक संदर्भ तक सिमट गया है। 'सपनो की-सी चित्रकारी' पेंटिंग के न तो 'इंप्रेशनिस्ट' स्कूल से संबद्ध है, न 'एब्स्ट्रैक्ट फॉर्म' या 'सरियलिज्म' से। शमशेर में आरोपित प्रभाववाद मात्र शब्द-संचयन और मायात्मक धूमच्छाया के रूप मे अनुरंजित वर्ण-साहश्य और ध्वनियो की 'सिन्धुअग' पकड़ तक पहुंचा है। इसे चित्रकला की भाषा में कहां तक 'इम्प्रेशनिस्ट' कहा जा सकता है? यह न तो कमिंग्ज़ी या मॉरिस की [illegible] शब्द मे लिख पाया, न ठीक-ठीक शैली या

वैशिष्ट्य है, जो वास्तव में कथ्य न हो कर मात्र शिल्प है। भीतर से वह रोमांटिक और द्रवित है। ('शमशेर मुख्यत प्रणय-जीवन के प्रसंग-बद्ध रसवादी कवि हैं'—मुक्तिबोध)। गीतकार है। उसमें आतरिक उन्नभाव की अदा है। झिझक है। वह खुलता नही। बात की तह तक पहुँच कर बिम्बो या भाव-प्रसंगो मे बिखर जाता है। उन्हें 'बोल्ड' रेखाओ मे सामने नही लाता। इसी कारण उसके अर्धचेतन मे छुपे अतीत के मोह और क्लासिकल के प्रति आस्था ने उसे छायावाद के उत्तरार्ध मे पाश्चात्य दर्शन की ओर मोड दिया। परिणाम जाहिर है—काव्य मे अस्पष्टता, दुरूहता और अंतर्विरोध। माही के शब्दो मे, यहाँ मैं मानता हूँ. "एक तरह की वैष्णव भावना, अपितु निरीहता शमशेर की कविताओ मे बराबर मौजूद है। सुन्दर—मात्र सुन्दर—मे रस की तलाश करता शमशेर, अवचेतन मन से सचाई को ढूँढता और प्रेम से पिघलते हुए निषेधात्मक रुख से मार्क्सवाद के खुरदुरे अनुशासन से बच निकलता है। वह कुछ छुपा जाना चाहता है। पकडे जाने पर चिढ जाने की सी प्रतिक्रिया करता है और जो न कहना चहिए उसे अधिक महत्वपूर्ण मान लेता है।

छोड दो संपूर्ण-प्रेम
त्याग दो सब दया—सब घृणा।
खत्म हमदर्दी।
खत्म—
साथियो का साथ।

(मूंद लो आँखें 'कुछ और कविताएँ', पृष्ठ ७२)

शमशेर के कुछ खटके हैं, जैसे हर प्रेमी के होते हैं और जिन पर अलग से चर्चा की जा सकती है। तदपि, अभी यह स्वीकार कर लेने से तनिक भी बात नही बनती कि शमशेर की मूल प्रवृत्ति संश्लेषीकरण एवं चित्रकलात्मक संवेदना की है। यह मान भी लिया जाय कि अपने को तराशते चलना-शमशेर की रचनात्मक प्रतिभा का महत्वपूर्ण पक्ष है, तो भी 'चित्रकलो' प्रवृत्ति क्रमवर्क मे सर्वाधिक संवेदनीय और प्रभावमय अंशो की बहुत कम अमूर्त रंग-विधा मे पकड पाती है। कथ्य वस्तु 'इमेज' मे आते-आते दूसरा ही रूप ले लेती है। सहज ही शमशेर गिरिजाकुमार माथुर की शैली मे ध्वनित होने लगता है। 'उषा', 'सागरतट', 'पूरा आसमान का आसमान', 'धूप कोठरी के आईने मे खडी' जैसी कविताओं मे यह छाया स्पष्ट दीखती है।

आईने के सामने शमशेर जो कुछ है वैसा पीछे नहीं। पीछे वह मौसम मे फैला, एक पीडित व्यक्तित्व है जो पग-पग पर अनिश्चय की हालत मे अपनी ही तलाश करता है। फिर भी उसमें कुछ है ...... और बहुत कुछ नहीं है।

साही ने शमशेर की काव्यानुभूति को बहुत नजदीक से तौला है। लगता है, तब भी साही को बहुत कुछ कहना शेष है। जो न कहा जा सकता उसे शमशेर की कविताओं के जरिए अनेकविध तरीकों से कसौटी पर और भी कसा जा सकता है। शमशेर ही क्यों, 'तार सप्तक' के प्रायः सभी कवियों की रचनाओं का पूर्ण आलोचनात्मक दायित्व से पुनर्मूल्यांकन होना इस वक्त आवश्यक प्रतीत होता है। इस संदर्भ में यह भी विचार किया जा सकता है कि शमशेर को हमउम्र साथियों के साथ पहले सप्तक में स्थान क्यों न दिया गया, और क्या कारण है कि स्वयं शमशेर ने दूसरे सप्तक में गीतकारकवियों के साथ आना पसंद किया।

•••

मुक्तिबोध

कविता सुनाने के पश्चात् मुक्तिबोध अपना सुनानी ढंग का स्वस्थ चेहरा पूरे आत्म-विश्वास के साथ सामने करके पूछते 'क्यों भई, कुछ बात बनी ?' तब तो सभी कविता और फिर बिम्बों का सिलसिला। हम बराबर कुछ जवाब नहीं दे पाते। भीतर ही भीतर कुछ गहराई-सी महसूस करते होते। 'बात बनने' से मुक्तिबोध का तात्पर्य उन चित्रमयी व्यंजनाओ से होता, जिन्हें वे कविता में निहित कथ्य को सम्पूर्ण प्रभाव देने के लिए आवश्यक समझते थे। सुनी हुई वे कविताएँ 'तार सप्तक' में सकलित रचनाओं के पहले की थी, जो या तो उज्जैन के 'गौरव' मासिक में प्रकाशित हुई या फिर रघुनाथ तावसे द्वारा सम्पादित 'नयी कविता' में निकली।

संयोग की बात है कि उन दिनों अज्ञेय ने मुक्तिबोध की कविताएँ पढ़ी या उन्हें पढ़ायी गयी, अन्यथा यह बहुत सम्भव था कि शमशेर बहादुर की तरह मुक्तिबोध भी 'तार सप्तक' के कवि न होते।

मुक्तिबोध के लिये तात्कालीन काव्य के रूढ़ प्रतिमानों से इतर अभिव्यक्ति की समस्या अधिक थी। वे जितने स्पष्ट, खुले हुए और सहज थे, उतने ही आन्तरिक रूप में जटिल एवं संवेदनशील थे। 'तार सप्तक' में उन्होंने लिखा " यह स्वीकार करने में मुझे सकोच नहीं कि मेरी हर विकास-स्थिति में मुझे घोर असन्तोष रहा। मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल हैं।" दरअसल, उनका यह द्वन्द्व छायावाद की कमजोरियों एवं दूसरे महायुद्ध से उत्पन्न सामाजिक तथा राजनयिक परिस्थितियों के कारण, क्रमश उभरते हुए नये मूल्यों तथा बौद्धिक आस्थाओं से संबधित था। बीच की स्थिति उन्हें स्वीकार न थी। समन्वय और समझौता करना उनके स्वभाव में न था। जाहिर था कि उन्हें इन परिस्थितियों में 'अधिक वैज्ञानिक' और 'अधिक तेजस्वी-दृष्टिकोण' प्राप्त हुआ। निश्चय ही नयी दृष्टि ने उन्हें व्यक्तिपरक जीवनानुभूति की जकड में श्वास लेती तात्कालीन रूढ़ कविता के बाहर एक प्रशस्त क्षेत्र दिया। उनके व्यक्तिकेन्द्र को दिशा-व्यापि बनाने में इस स्थिति ही अपना योग प्रदान किया। दूसरे शब्दों में मानसिक स्तर पर संबंधित उनकी 'स्थानान्तर गामी प्रवृति' का आग्रह साहित्यिक र सका।

मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया गीत-विधा के स्तर की न थी। क्योंकि गीत उनके ख्याल से क्षणिक स्थिति के द्योतक रहे। भावानुसारी संवेदनानुगत छन्द-क्रम शैली में अनुभूत सत्य को अभिव्यक्ति देना उन्हें नाकाफी लगा। मुख्यतः छन्द, छंदोबद्ध, कविता में यह कोशिश अधूरी प्रतीत हुई। मुक्तिबोध का कहना है कि "कवि व्यक्तित्व, अपनी प्रबल आंतरिक आवश्यकताओं के अनुसार कुछ विशेष भाव-श्रेणियों को ही प्रकट करता रहता है, मानो वे उसके जीवन के स्थायी भाव हों। उन्हें प्रभावोत्पादक रूप से प्रकट करने के लिए उसके अनवरत परिश्रम और अभ्यास के फलस्वरूप, धीरे-धीरे, उसकी ये भाव-श्रेणियाँ और उनकी अभिव्यक्ति दोनों एक इकाई बनकर 'एक कंडीशन्ड साहित्यिक रिफ्लेक्स' का रूप धारण कर लेती है। ये रिफ्लेक्स दृढ़ होने पर यंत्रवत् हो जाते हैं और उनकी अंतर्निहित भावधारा भी यंत्रवत् हो जाती है। काव्य शब्दावली जड़ीभूत हो जाती है।" मुक्तिबोध का यह भी ख्याल रहा कि आत्मनिरीक्षण द्वारा अभिव्यक्ति और शब्दगत जड़ता को लचीला बनाया जा सकता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध की कविताएँ अभिव्यक्ति की एक अनवरत खोज के पदचिन्ह हैं। उनमें तीव्र आत्म-संघर्ष, यान्त्रिकता के विरोध में शालीन आक्रोश, विवेचनात्मक संवेदना और विश्व-संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में व्यक्तिसंवेदना के उदात्त रूप का मिलाजुला अहसास होता है। इन विशेषताओं के कारण मुक्तिबोध काफी समय तक हिन्दी में उपेक्षित रहे। उन्हें अस्पष्ट, दुरूह और उलझे विचारों वाला कवि समझा जाता रहा। उनकी लम्बी कविताएँ 'नयी कविता' से संबंधित, तथाकथित, समूची पीढ़ी ग्रहण नहीं कर सकी। क्योंकि छायावाद के गीतात्मक संस्कारों को जिन कुछ कवियों ने तोड़ना चाहा, वे मात्र पंख फड़फड़ा सके। अधिक से अधिक छंद की कारा तोड़ सके। गेयकाव्य की प्रतिक्रिया उनमें केवल मुक्तरूपेण भावंकन एवं शब्दगत नवोन्मेष के रूप में ही लक्ष्य की गयी। ऐसे कवियों ने जड़ शब्दावली को तो तोड़ा ही, पर 'लिरिकल' संस्कारों के मोह से वे मुक्त न हो पाये। हिन्दी कविता की इस संक्रांति वेला में मुक्तिबोध की प्रायोगिक सक्रियता लघु-लघु मुक्तछंदात्मक कविताओं की तुलना में काफी दृढ़ और 'एंटी रोमाटिक' साबित हुई। अपनी बात कहने के लिए उन्होंने हमेशा व्यापक 'केनवास' लिया। रूमानियत भरे खण्ड चित्र, फुलझड़ी जैसी भावव्यंजना, चमत्कृत कर देने वाले स्फुलिंग उन्हें सदैव ही अपूर्ण लगे। तात्कालीन काव्योन्मेष को उन्होंने चीन्हा, उसकी ओर तनिक आग्रह हो का भाव भी जाहिर किया, पर वह सब उन्हें [illegible] लगा। इस [illegible]

मुक्तिबोध ने बाद की एक लंबी कविता

इतने में सहसा दूर क्षितिज पर
दीखते हैं मुझको
बिजली की नंगी लताओं में भर रहे
सफ़ेद नीले मोतिया चम्पई फूल गुलाबी,
उठते हैं वहीं पर अजान हाथ
अग्नि के फूलों को समेटने लगते।
अचानक विचित्र स्फूर्ति से मैं भी
ज़मीन पर पड़े हुए चमकीले पत्थर
लगातार चुनकर
बिजली के फूल बनाने की कोशिश
करता हूँ। रश्मि-विकीरण
मेरे भी प्रस्तर करते हैं प्रतिक्षण।
तेजस्क्रिय मणि-रत्न हैं ये भी।
बिजली के फूलों की भाँति ही
यत्न हैं वे भी,
किन्तु, असंतोष मुझको है गहरा,
शब्दाभिव्यक्ति—अभाव का संकेत।
काव्य चमत्कार उतना ही रंगीन
परन्तु ठण्डा।
मुझको तो बेचैन बिजली की नीली
ज्वलन्त बाँहों में बाँहों को उलझा
करती है, उतनी ही प्रदीप्त लीला
आकाश-भर में साथ-साथ घूमता है मुझको
मेरे पास न रंग है बिजली का गौर कि
भीमाकार हूँ मेघ मैं काला
परतु मुझमें है गम्भीर आवेश
अथाह प्रेरणा—स्त्रोत का संयम।
अरे, इन रंगीन पत्थर-फूलों से मेरा
काम नहीं चलेगा !!

मुक्तिबोध अपने समकालीन लेखकों में अपने कविकर्म के नाते इस मानी में सबसे अलग हैं कि उन्होंने अपने से झूठ नहीं बोला, साहित्य की इस विधा में गहरी ईमानदारी बरती। अपने पर सब झेला। कविता को क्षणोन्माद न मानकर उससे एक बड़े अस्त्र का काम लिया। सामाजिक वैषम्य का नकाब उतारने के लिये उन्होंने कलागत शिल्प का आश्रय लिया। जैसा कि वे आरम्भ से ही समझते रहे हैं कि 'कविताएँ उनके बेचैन मन

की ही अभिव्यक्ति है।' कही-कही यह अभिव्यक्ति उन्हें कम लगती है। वे अनुभव करते रहे कि उनकी अपनी जिज्ञासु वृत्ति का वास्तविक रूप वे उपन्यास द्वारा ही पा सकेंगे (द्रष्टव्य 'तारसप्तक' का वक्तव्य)। 'तारसप्तक' के प्रकाशन के दिनो मे उन्होने एक उपन्यास इसी आशय मे शुरू किया था। उसके तीन परिच्छेद हरिव्यास, रघुनाथ तावसे, जगदीश वोरा और मैंने सुने थे। पता नही, उस रचना का क्या हुआ? वस्तुतः छोटी कविताएँ उनकी प्रवृत्तियों के विपरीत थी। काव्यात्मक चमत्कारिक अंगो से उनकी बात नही बनती थी। यही वजह है कि बुद्धि, चिंतन और प्रगाढ़ जीवन आस्था से बद्ध उनकी रचना-प्रक्रिया सचेष्ट रही। इस दृष्टि से मुक्तिबोध की लम्बी कविताएँ पेंटिंग की तरह हैं, जिन पर उन्होंने परिश्रम से काम किया। उन्होने एक-एक अंश को आत्मा की आग से तौला। अनुभूति की आँच पर कसा। अनगढ शब्दो मे, सहज प्रवाह के साथ ऐसे स्पर्श दिये हैं कि बिंबो की समग्रता कुल मिलाकर एक बड़ी योजना का आभास देने लगती है। कहीं बहलावा नही, खटके नही, शब्दो की व्यर्थ भीड़ नही। प्रत्येक व्यंजना सार्थक। अपनी बात को प्रोजेक्ट करता हुआ एक-एक शब्द। लगता है कविता के व्यापक वृत्त मे हर शब्द मौजूद है। शमशेर ने ठीक कहा है, 'बड़ी मेहनत से हफ्तो बल्कि महिनो वे अपनी लम्बी कविता के टुकडो को धीरे धीरे चिन्तन और कल्पना की ऊर्जा से पुष्ट करते, जोडते और बढाते, और उसकी अन्तर्योजना को दृढ करते जाते। उनका शिल्प एक ऊँची इमारत उठाने वाला मेमारका शिल्प था।' मुक्तिबोध को सुर्रियलिस्ट कहना (जैसा कि एक नये आलोचक ने कहा है) उपयुक्त नही लगता, क्योंकि मानसिक जटिलताओं और 'फंन्टेसी' की शैली मे उनके बिंब एक दूसरे को काटते नहीं, बल्कि एक दूसरे के लिए उपादेय होते जाते हैं। इस बात से मुक्तिबोध की रचनाओं का नापना यो भी ठीक न होगा कि उनकी अभिव्यक्ति कलम की तमाम मे पुष्ट नही है। बुद्धि का अंकुश भरी-भरी जटिलताओं मे उनके हाथ मे रहा।
[illegible]

प्रसंगों में एक जैसी विद्रूप स्थितियाँ आ जाना स्वाभाविक है। सामान्य संवेदनाओं के बीच देश की सीमाएँ और भाषाओं की दीवारें नही आती। यह बात फिर भी स्पष्ट है कि मुक्तिबोध की कविता में गहरी घुटन रेखाओं की कुंठाएँ और मृत्युलोकी यंत्रणाएँ नही आयीं। वे साकार आतीं तो मुक्तिबोध अपने स्तर से गिर जाते। उनका काव्य-व्यक्तित्व मध्यवर्गीय पारिवारिक संवेदना से निवृत्त होकर निःस्वार्थ भाव से लोकोन्मुखी संवेदनशीलता ग्रहण करता गया। धीरे-धीरे उनकी कविताओं की लम्बाई बढ़ती गयी। मृत्यु के पहले की कुछ कविताएँ ('चंबल की घाटी में' और 'आशंका के द्वीप अंधेरे में') तो काफी लम्बी हैं। 'कल्पना' (१९५७) में छपी कविता, 'आशंका के द्वीप अंधेरे में' कुल ४४ कालम में छपी है। ऐसी कविताएँ न तो महाकाव्य की श्रेणी में आती हैं, न खण्डकाव्य की, बल्कि पूरी की पूरी कविताएँ जानदार चीज लगती हैं। लम्बी होने के बावजूद भी वे बौद्धिक पाठक को अपने साथ लिये चलती हैं।

लगता है, मुक्तिबोध में एक दार्शनिक की प्रतिभा थी, जिसके साथ औपन्यासिक क्षमता, अभिव्यक्ति के लिए उत्कटता, चित्रकार की दृष्टि और सहज शिल्प के गुण एक साथ विद्यमान रहे। चूँकि उन्होंने व्यावसायिक कलाबाजियों से समझौता न किया, इसलिये सतत रूप से काव्य को ही अपनी बात कहने का साधन बनाया। लम्बी कविताएँ कथ्य की पूर्णता के लिये उनके स्वभाव के अनुकूल थीं।

मुक्तिबोध की वैचारिक क्षमता को हिन्दी के अनेक आलोचकों ने मार्क्सवाद का खोल पहनाकर-नकारना चाहा। सच तो यह था कि उनका मार्क्सवाद के प्रति झुकाव मानवीय दुःखों की उलझनों तथा सामाजिक विषमताओं से राह पाने की दृष्टि से हुआ। उन्होंने बढ़कर काव्य सचेतना के लिये दावा नहीं किया, न उन्होंने सामयिक यश लूटने के उद्देश्य से, मार्क्सवाद को समाज के लिए 'रामबाण' माना, न इस बात का नारा दिया कि हिन्दी कवि को 'समाज की शोषण सत्ता से लड़ना होगा'। मुक्तिबोध तब भी कला के लिये जीवन वैविध्य को आवश्यक समझते थे। सच तो यह है कि मुक्तिबोध को जानबूझ कर आलोचकों ने चर्चा से दूर रखा। जिसे 'नयी कविता' की संज्ञा दी जाती है। उसकी वास्तविक शुरुआत 'तारसप्तक' के प्रकाशन से नहीं, अपितु उसके भी पहले से मुक्तिबोध, माचवे, नेमीचन्द्र जैन आदि की कविताओं में हो चुकी थी। मुक्तिबोध के काव्य में यह प्रवृत्ति स्वस्थ ढंग से विकसित हुई। शेष प्रयास मंजिल तक पहुँचने की कोशिश में उठे हुए बौने कदम हैं। कहना आवश्यक नहीं कि इलाहाबाद और दिल्ली में बराबर ये प्रयत्न होते रहे कि काव्य की नयी दृष्टि का श्रेय दूर बैठे मुक्तिबोध न ले जायें। फिर भी उपेक्षा के बावजूद एक पीढ़ी ऐसी थी, जो मुक्तिबोध को महत्त्व देती

रही। उसने ही मुक्तिबोध को '४२ से लगाकर '६४ तक साहित्य मे जीवित रखा।

मुक्तिबोध के संबंध में धीरे-धीरे और भी सामग्री सामने आएगी। 'तारसप्तक' के कवियों का पुनर्मूल्यांकन होने पर यह निश्चय ही प्रकट हो सकेगा कि मुक्तिबोध ने आधुनिक कविता के लिए एक ऐसी नजर दी है, जो फैशनपरस्त कविताओ से इतर, गहरी जीवनदृष्टि से संपृक्त है। कुछ मानों में वह दृष्टि आगामी कविता के लिये मार्ग-दर्शक भी है। उसकी बुनियाद बहुत गहरी है। •••

'तारसप्तक' : कुछ साधारण तथ्य

हिन्दी कविता के विकास का एक महत्त्वपूर्ण क्रम 'तारसप्तक' के प्रकाशन (१९४३) के साथ आरंभ हुआ। इस बात को आज बाईस वर्ष होने आये। 'अज्ञेय' के सम्पादन में प्रकाशित इस संकलन ने एक ओर छायावादी कविता के रूढ़ आग्रहों से अपने को विच्छिन्न किया तो दूसरी ओर द्वितीय महायुद्ध के कारण उद्भूत विघटित मूल्यों के प्रति मन्द आस्थाओं को स्वीकारा। 'तारसप्तक' के सातों कवियों की मन स्थिति उन दिनों न तो क्रुद्ध युवाओं की-सी थी न वे असंयत अहन् के विकृत अंगारों पर खड़े थे। सातों ही मध्यवर्गीय ग्रन्थियों में ग्रस्त, पढ़े-लिखे विवाहित थे और अभिव्यक्ति की ईमानदारी में विश्वास रखते थे। स्वभाव से वे प्रयोगधर्मा थे, स्वतन्त्रचेता थे, साहित्य को गम्भीरता से लेते थे। इस दृष्टि से 'तारसप्तक' की भूमिका तथा उसमें सम्मिलित विभिन्न वक्तव्य एवं कविताओं का आज के सन्दर्भ में एक विशिष्ट महत्त्व है। हिन्दी कविता के नये प्रतिमानों के हित में इस प्रकाशन का कई मानों में पुनर्मूल्यांकन संभव है। यह सायोगिक था कि 'तारसप्तक' में 'अज्ञेय' तब कुछ कवियों को जुटा सके, और चाहते तो सात से अधिक कवि भी संकलन के लिए चुन सकते थे।

युद्धोत्तर आंग्ल-काव्य का प्रभाव अप्रत्यक्षत तत्कालीन पढ़े-लिखे कवियों पर पड़ा। यह प्रभाव छायावाद की निस्सारता के फलस्वरूप शिल्प, भाषा और प्रतीकों के रूप में उभर कर आया। पूरी तरह से छायावादी रूमानियत से अपने को मुक्त न कर पाते हुए भी इनका अन्तर्मुखी आग्रह मार्क्सवाद के कारण द्वंद्व एवं बहिर्मुखी सामाजिकता में परितोष खोजने लगा था। जाहिर है, इन सभी कवियों की मन.स्थिति आज के परिप्रेक्ष्य में एकदम भिन्न स्तर की थी। राजनयिक चेतना के साथ सहज साहित्यबोध को वे अलग कर पाने में असमर्थ रहे।

'तारसप्तक' का महत्त्व इस दृष्टि से निश्चय ही ऐतिह्य हो गया है। 'अज्ञेय' ने संकलित कवियों को 'राहों के अन्वेषी' कहा। तब वे किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं थे। सन् ६५ तक आकर अर्थात् बाईस वर्ष के कालान्तर में कौन किस मंज़िल पर पहुँचा है, इसका अध्ययन मनोरंजक होगा। परम्परा का आग्रह वर्तमान स्थिति तक आते-आते किस तरह लचर लगने लगा है, यह लक्ष्य करने की चीज है। हिंदी कविता की उपलब्धियों और काव्यगत अभिप्रायों के विकास की दृष्टि से 'तारसप्तक' का पुनर्परीक्षण

इस काम अर्थवान नहीं होगा। इसका यह आशय कदापि नहीं कि इतिहास को हम दरह कर बैठे रहें। अतीत के पृष्ठों से हम महज एक सबक ले सकते हैं।

इस संदर्भ में 'तारसप्तक' के सबसे अधिक विवाद-ग्रस्त कवि प्रभाकर माचवे से मैंने प्रश्न पूछे। मेरा उद्देश्य प्रश्नों के माध्यम से काव्यगत मूल्यों की चर्चा करना नहीं था। बल्कि कतिपय ऐसे तथ्यों के सम्बन्ध में जानकारी एकत्र करना था, जो आमतौर पर बहुत साधारण होते हैं, पर किसी कृति के काव्यान्तर में महत्त्वपूर्ण हो उठने के साथ ही उनका स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है ताकि सर्वेक्षण की पृष्ठभूमि कमजोर न रहे। अतः यह चर्चा मात्र एक भूमिका स्वरूप है।

आप 'तारसप्तक' के प्रमुख कवियों में हैं। हिन्दी कविता की तत्कालीन अर्थात् छायावादोत्तर धारा ने आपकी कविता को किस रूप में प्रभावित किया ?

मैं अपने आपको प्रमुख कवियों की कोटि में नहीं मानता। मैंने अंग्रेज़ी और मराठी कविता काफी पढ़ी थी। और, असल में, एक तरह की छटपटाहट तब सभी महसूस कर रहे थे। मैं छायावाद और प्रगतिवाद दोनों से असन्तुष्ट था, मुझे दोनों में अतिरंजना और रूमानियत अ-यथार्थ जान पड़ता था। 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में मैंने लिखा है कि 'छाया (-वाद) को प्रगति (-वाद) और प्रगति को छाया मानने का' वह युग था—सन् '४३! आधे महायुद्ध के बीच फासिज्म-विरोधी संघर्ष चल रहा था। दोनों वादों के प्रति असंतुष्टि की स्थिति में मेरी छटपटाहट नयी राह की तलाश करती रही। मैं समझता हूँ, इसका प्रभाव मेरी कविता पर अवश्य पड़ा।

शिल्प की दृष्टि से आपने कौन से नये प्रयोग किये ? यह प्रश्न आज के सन्दर्भ में इसलिए आवश्यक है कि अब तो उनमें से कई बातें रूढ़ हो गयी हैं, पर उस समय आपने कौन-सा साहसिक कदम उठाया ?

मैंने सॉनेट लिखे। ग्राम गीतों की धुनें नयी कविता में प्रतिष्ठित की 'बादर बरसे मूसलधार, चरवाहा आमों के नीचे खड़ा किसी को रहा पुकार', जैसी कविता में। बोलचाल के टुकड़े प्रतिष्ठित भाषा के साथ रखे : 'वामपक्ष में है या हरामपक्ष में है ?' या 'इसे क्या दरकार। उसका तो महज काम। बेचना ये अखबार। वह जानता है महावीर। तनखा साढ़े तीन कलदार...।' संस्कृत छंदों के नामों का नया अर्थ प्रणय-प्रधान दो सॉनेटों में है। एक गंभीर पंक्ति और कोष्ठक में हास्य-व्यंग्य से भरी—अवचेतन व्यक्त करने वाली करुण रस की पंक्तियाँ भी वहाँ हैं। गजलों की भी कोशिश की। बनारस में मणिकर्णिकाघाट पर चलती नाव की तरंगों की गति भरने का यत्न किया। 'हॉरर' के प्रतीक 'कापालिक गाता है' जैसी अलंकारहीन पंक्तियाँ भी लिखी।

मेरे लेखे उस समय गद्यप्राय मुक्तछंद लिखने वालों में मेरी रचनाएँ सर्वाधिक 'साहसिक' कही जा सकती हैं। पंत की 'झंझा में नीम' या 'दो लड़के' जो पहले 'कर्मभूमि' में छपी और बाद में 'ग्राम्या' में, मेरी 'विशाल भारत' में जनवरी '३८ में छपी दो प्रभाववादी कविताओं के बाद की चीजें हैं।

द्वितीय महायुद्ध के कारण क्या 'तारसप्तक' के कवियों की युद्ध सम्बन्धी कोई सामान्य विचार-धारा थी ?

मैं समझता हूँ, 'हाँ'। कुछ कवि कम्युनिस्ट थे तब—नेमिचन्द्र, भारतभूषण, रामविलास, वात्स्यायन, मानवेन्द्रनाथ राय के मत को मानते थे। मैं भी राय के लेखन से बहुत प्रभावित था। गिरिजाकुमार एक अस्पष्ट रूमानी ढंग के सहयात्री थे। मुक्तिबोध पार्टी मेम्बर नहीं थे, पर साम्यवाद से आविष्ट थे। सभी कवि फासिस्ट-विरोधी थे। मेरा रूस की लाल सेना पर 'तारसप्तक' में एक सानेट है। शायद युद्ध पर सीधी यही एक कविता 'तारसप्तक' में है। शीर्षक भी रूसी में है। पर गांधी के शान्ति मार्ग और अहिंसा के प्रति तब आशंका होकर भी मेरे मन में अवज्ञा का भाव नहीं था (जैसे कि भारतभूषण के 'दौड़ो बन्दर' वाली कविता में है)†। मैं उस समय निरी बौद्धिकता के खोखलेपन से परिचित हो चला था। मैं मजदूरों के बीच कार्य कर चुका था। तर्कशास्त्र पढ़ाता था, पर सेवाग्राम आश्रम के सम्पर्क में सन् '४० में आ चुका था। मेरी कविता 'मैं और खाली चा की प्याली' इसका साक्ष्य देती है कि आदर्शवादी वाग्जाल से दूर कहीं न कहीं एक गहरी विसंगति है—एक प्रकार की अस्तित्ववादी शून्य-चेतना !

'तारसप्तक' के प्रकाशन की योजना सर्वप्रथम किसकी उद्भावना थी ? क्या आप और आपके साथी मित्रों की कोई कल्पना थी ? 'तारसप्तक' नाम किसने सुझाया ? क्या इसके अतिरिक्त और भी नाम सामने थे ?

मुझे उस समय की सब बातें सिलसिलेवार याद नहीं आतीं। मैं समझता हूँ, मैंने यह कल्पना सबसे पहले शुजालपुर में नेमिचन्द्र और मुक्तिबोध से चर्चित की। मराठी में रविकिरण-मंडल के सप्तर्षि जिस पर अंकित होते हैं, ऐसी कई कविता-पुस्तकें छपी थीं। मैंने इसलिए पहला नाम 'सप्तर्षि' रखना चाहा था। नेमिचन्द्र संगीत-प्रेमी थे। उन्होंने 'सप्तक' सुझाया। 'तार' मैंने जोड़ा, दिल्ली में, फासिस्ट-विरोधी लेखक-सम्मेलन के समय। एक विचार केवल 'सात कवि' जैसा बँगला में तब 'एक पैसाय एकटि' (यह जेम्स जोइस के 'पेनी ईच पोएम्स' नाम की चोरी थी) कोरोत्र जैसा सामान्य नाम देकर अलग-अलग छोटे-छोटे हर एक के संग्रह छापने का भी था! पर अंततः वात्स्यायन जी ने 'तारसप्तक' चुना। उन्होंने वक्तव्यों में सुगठ

---

† 'तार सप्तक' में 'अहिंसा' शीर्षक से प्रकाशित।

बनवाया; टूटी सात सीढ़ियों वाला—बावडी में उतरना अमूर्त। उसी पर टूटे पुल या बाद में 'रौंदे इन्द्रधनुष' का आभास जैसा। अब 'तारसप्तक' का दूसरा पुनर्मुद्रण या संस्करण शीघ्र ही प्रकाश्य है, उसमें वह दृश्य देखने को मिलेगा।*

आरम्भ में किन-किन कवियों को संग्रह में लेने का प्रस्ताव था?

जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, 'आगामी कल' के सम्पादक प्रभागचन्द्र शर्मा और वीरेन्द्रकुमार जैन हमारे मित्रों में से लेने की बात थी। यों मालवा के मुक्तिबोध, मैं और ये दो, कुल चार हो जाते थे। नेमि जी को हम बुन्देलखंड का मान कर चल रहे थे। वे ही भारतभूषण और रामविलास के नाम लाये। रामविलास प्रखर आलोचक के नाते प्रसिद्ध थे। वे 'हंस' में 'बापू के छौने' और 'अगिया बैताल' के नाम से व्यंग्य कविता 'जनयुद्ध' में लिखते थे। हम बाकी कवि उन्हें बड़ा आलोचक समझते थे और बड़ा कवि नहीं। शायद अब भी यही मानते हैं। कम से कम मैं उनकी व्यंग्य-शक्ति का कायल हूँ।

'तारसप्तक' के सम्पादक से आपका परिचय किस प्रकार हुआ? उन दिनों 'अज्ञेय' के तत्कालीन काव्य के सम्बन्ध में आपकी एवं अन्य कवियों की क्या धारणा थी?

मैं सन् '३६ में जब आगरा में एम. ए. दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी था, वात्स्यायन जी 'सैनिक' के सम्पादक बन कर वहाँ आये। जैनेन्द्र जी ने कहा, उनसे मिलो। आगरा होटल में मैं और नेमिचन्द्र उनसे मिलने गये थे। उनके क्रान्तिकारी, पूर्व-जीवन से हम बहुत आकृष्ट थे। तब तक उनकी बहुत-सी रचनाएँ नहीं छपी थी, सिर्फ 'भग्नदूत' और कुछ कहानियाँ ही छपी थीं। 'शेखर' की पांडुलिपि उन्होंने मुझे पढने को दी थी। मैं उन्हें कुछ-कुछ 'नवीन' की तरह अलमस्ताना अनिकेत कवि समझता था। उन पर, जेल में पढे डी०एच० लारेन्स और उत्तरकालीन रूमानी ब्राउनिंग-क्रिश्चियाना रोजेटी आदि का बहुत असर था। इन्हीं उत्तरकालीन रोमांटिकों पर शोध करने वाले रामविलास शर्मा के लिए शायद बाद में गुंजाइश हुई। अन्य कवियों की 'अज्ञेय' के बारे में धारणा के विषय में मैं नहीं जानता। मैं उनके अद्भुत-रम्य व्यक्तित्व, सौम्य-मधुर बाह्य रूप और गहरी बौद्धिकता, पठन-पाठन से बहुत आतंकित था। वे आतंकवादी थे ही। शायद है, मैंने 'हंस' के रेखा-चित्रांक में 'अज्ञेय' : जितने मुझे ज्ञेय हुए, एक लेख तब सन् '३८ में लिखा था।

---

* नये संस्करण का आवरण हस्त-चित्रित है।

'तारसप्तक' में प्रकाशित सभी कवियों के सम्बन्ध में अंतिम निर्णय किस प्रकार लिया गया ?

मुझे मालूम नहीं। 'तारसप्तक' कलकत्ते में छपा। तब आसाम मोर्चे पर वात्स्यायन जी कप्तान थे—युद्ध में मोर्चे पर थे। नेमिचन्द्र, भारतभूषण तब कलकत्ता में थे। उन सबने ही मिलकर अंतिम निर्णय लिये होंगे। मैं समझता हूँ, वात्स्यायन जी का जैसा स्वभाव है, जब वे कोई चीज सम्पादित करते हैं, तो पूरा अपने निर्णय और अपने दायित्व पर ही करते हैं। सुनते सबकी हैं, पर करते मन की ही हैं।

'तारसप्तक' में प्रकाशित कविताओं को क्या स्वयं कवियों ने चुना था या उनकी कविताओं में से चुनाव का कार्य सम्पादक ने किया ?

मैं और कवियों को नहीं जानता, पर मैंने अपनी नोट-बुक और बहुत-सी हस्तलिखित रचनाएं वात्स्यायन जी के पास भेजी थी, बल्कि नेमिचन्द्र के पास मेरी कविताएँ बहुत वर्षों तक पड़ी रहीं। शायद, मेरा प्रभाव उनकी आरम्भिक पंक्तियों पर मैंने देखा था, या यह केवल आभास हो सकता है। उनके अधिक संयमित-अनुशासित, संकोचशील व्यक्तित्व के कारण उनकी रचना का 'निखार' और था। मेरी रचना अधिकांश अनगढ़ थी, आज भी है। मैं अपने लिखने के प्रति बहुत धैर्य नहीं रखता। 'सहज' में मेरा अधिक विश्वास है। खैर, वात्स्यायन ने उसी ढेर में से कुछ कविताएँ चुनीं। कुछ पंक्तियाँ उनकी समझ में नहीं आयी। मेरा जवाब मेरे परिचय वाले वक्तव्य में हैं। उस पर उन्होंने व्यंग्य भी किया है। परिचय सब वात्स्यायन जी ने ही लिखे थे।

वक्तव्यों के सम्बन्ध में क्या किसी तरह का विशेष आग्रह रखा गया था ? प्रकाशन के पूर्व क्या 'तारसप्तक' की भूमिका आपने देखी थी ?

नहीं। हर एक को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। जहाँ तक भूमिका का प्रश्न है, वह मैंने पहले नहीं देखी। सम्पादक ने शायद अपनी भूमिका कलकत्ते में रहने वालों को दिखलायी हो।

आपकी राय में 'तारसप्तक' के कमजोर अंश कौन-से हैं ?

सबसे कमजोर अंश तो मैं स्वयं हूँ, ऐसा आज आ कर लगता है। वैसे, आपके इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, क्योंकि तब यह लगता था कि अपना ही सबसे अच्छा है, बाकी सब कमजोर हैं। अभी भी ऐसा मानने वाले उसी 'सप्तक' के शेष कवियों में कुछ होंगे। वैसे सच्ची बात यह है कि हर एक अंश में कुछ-कुछ कचपन जरूर था और है। मसलन मेरी कविता में बौद्धिकता की दर्शनप्रियता, वात्स्यायन जी की आत्म-मैरोको की एस्टर्ट कोशिश, मुक्तिबोध की पुनरावृत्तियाँ, रामविलास का शब्दाडंबर, नेमिचन्द्र की तरल-छायावादी, मेरुदंड-विहीन सहानुभूति, भारतभूषण की अतिरिक्त

चतुराई, जिसमें अप्रामाणिकता-सी झलकती है, अब भी 'तारसप्तक' में मुझे पसन्द नहीं। पर हर कवि में कुछ न कुछ ऐसी विशेषता भी थी, जो इन दोषों को ढांक देती है, पूर्ति-सी करती है। इसलिए मुझे हर कवि की दो-चार कविताएँ हर अंश में बहुत प्रिय हैं। गिरिजाकुमार उस समय सर्वाधिक प्रिय थे। वे मुझसे, सबसे भिन्न थे।

यदि आप 'तारसप्तक' के सम्पादक होते तो किन कवियों को लेना उपयुक्त समझते?

आज यह कहना बहुत मुश्किल है। पर शायद तब के हमारे कुछ प्रिय कवि यथा त्रिलोचन शास्त्री या नागार्जुन या 'गोरा बादल' के कुछ व्यंग्य या 'रूपाभ' और 'विशाल भारत' और 'हंस' में तब छपी कई कविताएँ—'तालाबी पंखेरू' राम, इकबालसिंह 'राकेश' की या 'नवीन' जी की 'बिंदिया' या नरेन्द्र शर्मा की तब छपी 'कामिनी' के अंश या परवर्ती 'निराला' के प्रयोग, सब लिये जा सकते थे। अलग कोई काव्य-संकलन उस समय का भिन्न होता। पर 'अज्ञेय' जी ने शर्त लगा रखी थी कि उन्हीं कवियों की रचनाएँ लें, जिनके संग्रह नहीं छपे हों—गो वे स्वयं और भारतभूषण और गिरिजाकुमार इसके अपवाद थे।

एक आखिरी प्रश्न—'तारसप्तक' को सहकारी प्रकाशन कहा गया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि सातों कवियों ने प्रकाशन का व्यय सहकारी ढंग पर वहन किया।

मैं औरों की नहीं जानता, मेरे पास तो उस समय छपाई का खर्च देने के लिए पैसे थे नहीं। मैंने कप्तान वात्स्यायन जी को साफ़ लिख दिया था—वे ही छपाई का खर्च दें। मैं उनका ऋणी हूँ, क्योंकि आज तक यह ऋण मैंने चुकाया नहीं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, शायद मुक्तिबोध ने भी मुद्रण-व्यय नहीं दिया था। उन सातों में हम दो ही सबसे गरीब थे उस समय। और बाकी सब अच्छी तनखाओं पर थे। इसलिए हम दो ही साम्यवाद के 'जायके' के बारे में शंकित थे—अन्य लोग 'बूर्जुवा' कम्युनिस्ट थे। अपने-अपने 'वाद' में आश्वस्त। ●●●

परमतत्व की शोध में (?) : 'तार सप्तक' के कवि

'तार सप्तक' किसी सुचिन्तित काव्य-आन्दोलन का अग्रदल था, इस भ्रम का निवारण करते हुए नेमिचन्द्र जैन ने 'ज्ञानपीठ पत्रिका' (नवम्बर '६५) में प्रकाशित अपनी टिप्पणी में दो बातें स्पष्ट रूप से प्रकट की हैं

१. 'तार सप्तक' के कवियों और उनके निमित्त मोड़ लेती हुई 'नयी काव्य चेतना' के सन्दर्भ में मात्र उसके सम्पादक, 'अज्ञेय' की आलोचना होती रही और संकलित कवियों का व्यक्तित्व उपेक्षित रहा।

२. संकलन में 'सम्पादक महोदय स्वयं इस कारण अधिक थे (अर्थात् सम्मिलित किये गये थे) कि उस प्रकाशन में प्रमुख रूप से सहायक हो रहे थे।'

जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, लेखक का यह खयाल कि नयी काव्य-चेतना का उदय 'तार सप्तक' में संकलित कवियों के कारण हुआ, आत्म श्लाघा मात्र है। गिरिजाकुमार माथुर उसी 'तार सप्तक' को 'प्रथम समवेत अभिव्यक्ति' कहते हैं। साथ ही साथ इस बात को भी साग्रह स्वीकार करते हैं कि "'तार सप्तक' के प्रकाशन से पाँच वर्ष पूर्व ऐसी रचनाएँ हो रही थीं तथा सन् १९४० के आसपास के कृतित्व में वह आधुनिक स्वर सबल और स्पष्ट होकर सामने आ गया था। नयी प्रवृत्ति की उपलब्ध और परिस्थीकृत (एस्टेब्लिश्ड) सामग्री को 'तार सप्तक' में मात्र संकलित किया गया था। फलतः 'तार सप्तक' किसी एक कवि या उसके सम्पादक द्वारा प्रस्तावित 'प्रयोगवादिता' का समारम्भ नहीं था, क्योंकि नव काव्य उसके कई वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था।" (ज्ञानपीठ पत्रिका, जनवरी १९६६)। श्री माथुर का यह परस्पर-विरोधी कथन और स्वयं 'अज्ञेय' जिसे 'ऐतिहासिक संयोग' कहते हैं तथा उनकी दृष्टि में बीस वर्ष पूर्व की—'तब की सम्भावनाएँ अब की उपलब्धियों में परिणत हो गयी हैं' एवं उनके सभी 'बोधमत्त अब बुद्ध हो गये हैं,' ये अवधारणाएँ भी परीक्षण योग्य हैं। संकलन में 'संयोगवश' कुछ कवियों के जुड़ जाने से ऐसा नहीं होता। 'तार सप्तक' से इतर तब हिन्दी में और भी कवि थे जिन्हें संकलन में नहीं लिया गया, जबकि मोड़

लेती हुई काव्य-चेतना में उनका भी योग हिन्दी आलोचना ने स्वीकारा है। यदि संयोगवश उपलब्ध संकलनों मात्र से यह सम्भव होता तो दूसरे और तीसरे सप्तक का स्थान आज की काव्यस्थितियों में समाप्त न हो गया होता। श्री जैन की इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि परिवर्ती आलोचना ने 'अज्ञेय' के व्यक्तित्व को समूची नयी काव्य चेतना का अगुवा बताया और जिसका परिणाम यह हुआ कि काव्य के परवर्ती मानदण्डो में विकृति उत्पन्न हुई तथा अहितकर प्रभावो को प्रश्रय मिला। कुछ यही राय 'तार सप्तक' के हर कवि की है। लेकिन 'परवर्ती मानदण्ड' कौन से हैं? कौन 'अहितकर प्रभाव' प्रश्रय पा गये? यह धारणा क्या इसलिये बनायी गयी कि पिछले बीस-पचीस वर्षों में सिवा एक-दो के 'तार सप्तक' के शेष कवि अपना प्रभाव खोते गये? 'सात नये ध्यानी बुद्धो (वकौल 'अज्ञेय') में केवल मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन हुआ तथा गिरिजाकुमार माथुर और प्रभाकर माचवे ने कविता की सम्भावनाओ को समझा। भारत भूषण की तरह 'कवि कर्म' को 'तलवार धार पे धावनो' नही बताया या 'अज्ञेय' की तरह 'जस के तस' रह कर परम्परा की दुहाई न दी। इस सिलसिले में मूल प्रश्न : यह है कि अगर 'तार सप्तक' सुचिन्तित काव्यान्दोलन के इरादे से संयोजित किया गया होता तो उसमें कवियो की सूची कुछ और होती और उसकी भूमिका संग्रह के प्रकाशन का विवरण न होकर अथवा कवियो में 'कुछ' के कारण पाठको के सामने लाये जाने योग्य पात्र की कैफियत से भिन्न होती। नेमिजी का कहना है कि "तार सप्तक' में संग्रहीत कवि मूलतः सम्पादक की पसन्द के कारण नहीं थे" संगत नही लगता। क्योंकि इतना तो स्पष्ट है, यह योजना वात्स्यायन जी की पूरी सोची समझी हुई थी। जिस काल में छायावाद का पतन हुआ उस काल में नयी कविता के आरम्भ की सन्धिभूमि पर 'तार सप्तक' का प्रकाशन कुछ अर्थ रखता है। यही समय था जब नेतृत्व की भावना से 'अज्ञेय' ने आगे आना उपयुक्त समझा और उसी नेतृत्व के नैरन्तर्य की दृष्टि से आगामी सप्तकों का सम्पादन किया। आज भी 'अज्ञेय' उस उपलब्धि के इतिहास रस को भोगते हैं और चौथाई शताब्दी बाद की कविता के सम्बन्ध में अपनी धुरी से हटकर बात नहीं करते, बल्कि उल्टे हुआ यह कि 'आंगन के पार द्वार' तक आते आते उनका परम्परागत अन्ध-'अनुशिवाद' और 'नव्य-रहस्यवाद' की सीढ़ियों पर उतर गया।

दुर्भाग्यवश बाद के 'सप्तकों' का सन्दर्भ नयी कविता की उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ रहा। 'तार सप्तक' का दूसरा संस्करण तो केवल एक ऐतिहासिक दस्तावेज को उपलब्ध बनाने' (अज्ञेय) से अधिक महत्व नहीं रखता। जिन दिनों 'तार सप्तक' की योजना बनिन्द की जा रहे थी उन दिनों 'अज्ञेय' के समक्ष [illegible] परिवार

बँगला की 'एक पोयगाय गोरीज' अथवा रविकिरण मंडल के महर्षि-अंकित मराठी काव्य संग्रह थे। और जैसा कि डॉ० प्रभाकर माचवे का कथन है, 'तार सप्तक' नाम चुनने के पूर्व 'महर्षि' नाम रखना चाहा गया था। अतएव 'तार सप्तक' कोई मौलिक कल्पना नहीं थी। इसलिए 'संयोग वश' कवियों का एक साथ होना ही गलत लगता है जितना कि उनका 'व्यक्तिगत कारणों' से संकलन में आना। स्वयं 'अज्ञेय' इस बात को आज भी स्वीकार करते हैं कि 'उनमें मतैक्य नहीं है प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है।' तब विभिन्न रुचियों के कवियों में केवल सात को ही एक जगह संकलित करने के पीछे किस बात का आग्रह था? संयोग वश ही ऐसा हुआ तो उनके साथ वीरेन्द्रकुमार जैन (जिनकी कविताएं 'अज्ञेय' द्वारा मंगायी जाकर भी लौटाई नहीं गयीं)*, नागार्जुन, शमशेर बहादुर, प्रभागचन्द्र शर्मा भी हो सकते थे। सात ही कवि क्यों? इसलिए कि मात्र वे ही नव नयी कविता के राही थे और सभी 'परमतत्त्व की शोध' में लगे थे। सवाल यह है कि यदि कविता की अभिव्यक्ति कवि के लिए विवशता है और वह विवशता 'जेन्युइन' है तो उसकी काव्य चेतना सूखनी नहीं चाहिए। वास्तविक

---

* 'तार सप्तक' की प्रारम्भिक सूची में निश्चय ही मेरा नाम था। मैंने कविताएँ और वक्तव्य भी भेजे थे। बाद को 'इन्डायरेक्टली' पता चला था—कि वात्स्यायनजी ने मेरे वक्तव्य को सर्वोत्कृष्ट मान्य किया था। उस वक्तव्य की मूल प्रति आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

कई पत्र अनुत्तरित रहने के बाद श्री 'अज्ञेय' ने मुझे लिखा था—कि सफर में उनका सामान चोरी चला गया—उसी में मेरी सब वक्तव्य–काव्य–सामग्री खो गयी। वह फिर मुझे कभी नहीं लौटायी गयी। किन कारणों से बाद को मेरा नाम हटा दिया गया, कतई पता नहीं चल सका। मैं शुरू से ही निहायत बुद्धू, बेसबर आदमी हूँ। दुनिया की शतरंजी चालों पर मेरी निगाह नहीं रह पाती। भीतर-भीतर कोई षडयंत्र अवश्य हुआ—और मेरी जगह पर शायद डा० रामविलास या और कोई लिया गया। इससे अधिक मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। न जानने की भी इच्छा हुई। क्योंकि मैं किसी और ही दिशा का यात्री हूँ। मेरा यात्रा पंथ अति दुर्गम है, और अगम्य एकान्त बीहड़ों को बींधते हुए मेरी यात्रा चल रही है— नूतन चेतना की खोज में। अपने तट्‌ तक पहुँचने के बारे में अब आश्वस्त हो गया हूँ—यही नयी खबर देने को है—(लेखक को एक पत्र से : ४ अप्रैल, १९६१)।

काव्यानुभूति निरन्तर (चाहे अन्तराल से ही सही) अपना मार्ग
रहती है। 'तार सप्तक' के कवियों में रामविलास शर्मा ने कविता
बन्द कर दिया, नेमिचन्द्र जैन के लिए नाटक और अनुवाद की
सर्वोपरि हो गयी, भारत भूषण अग्रवाल की परिणति 'तुक्तकार'
में हो गयी। 'परम तत्त्व की शोध' करने वाले, जिनमे 'अज्ञेय' भी
अब भी उसी की शोध में लगे हैं ? यदि अभिव्यक्ति एक विवशता
संकलित कवि 'जेन्युइन' हैं तो उनकी परिणति यों नही होना चाहिए थी

इस परिपेक्ष्य मे 'तार सप्तक' के कवि संयोगवश एक जगह
बल्कि 'अज्ञेय' ने ही अपने नेतृत्व के ख्याल से उन्हें सोच-समझकर चुन
सम्भवत. उनका अनुमान यह भी रहा होगा कि अधिकांश कवि जल्द
चुक जायेंगे।

नेमिजी की दूसरी बात कि 'स्वयं 'अज्ञेय' 'तार सप्तक' मे इस
अधिक थे कि वे प्रकाशन मे सहायक रहे'—इस ओर संकेत करती है
उस संकलन में कवि की हैसियत से 'अज्ञेय' की स्थिति कमजोर
गिरिजाकुमार माथुर भी उनकी स्थिति 'संकलनकर्त्ता' से अधिक
मानते। आलोचको ने 'संकलन-कर्म को नेतृत्व समझ लिया था।'
किसी अन्य व्यक्ति ने 'तार सप्तक' का सम्पादन-प्रकाशन किया होता
कदाचित् 'अज्ञेय' उस सूची में सम्मिलित नही होते। जो बात 'तार स
के प्रकाशन के दिनों स्पष्ट नही हो सकी थी उसे नेमिचन्द्र जैन ने अब
करके हिन्दी काव्य के प्रति, अनुग्रह किया है : " 'अज्ञेय' जी को 'तार स
के कवियो ने अपना सम्पादक, या कि कहे प्रकाशक, चुना था, वहाँ बाद
दोनो सप्तकों के कवियों को सम्पादक ने चुना था, अर्थात् 'तार सप्तक'
समय 'अज्ञेय' उसके कवियो पर अवलम्बित थे, 'सप्तको के कवि सम्पादक
अनुग्रह पर। बाद मे स्थिति उलटी थी।"

चौबीस वर्ष पश्चात् ('तार सप्तक' का प्रकाशन १९४३ में हुआ था)
पूर्वापर स्थिति पर नजर डालने से 'तार सप्तक' के पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न
सहज आ खड़ा होता है। 'तार सप्तक' को बैंकिंग वाली भूमिका अन्य
'सप्तकों' की भूमिकाओं के सन्दर्भ में गुटबन्दी और संकीर्णता का आरम्भ
लगती है। नेमिचन्द्र जैन ने उसे 'दुश्चक्र की पहली कड़ी' कहा है। चूँकि
यह आरोप 'तार सप्तक' के एक कवि का है, इसलिए जिज्ञासा होती है कि
क्या 'तार सप्तक' के अन्य कवि भी ऐसा मानते हैं ? क्या 'तार सप्तक'
'साहित्यिक संरक्षण वृत्ति की उपज' से सम्बद्ध है ? पुनर्पाठन और स्पष्टीकरण
की आवश्यकता आज बहुत जरूरी है। यह सभी जानते हैं कि 'तार सप्तक'

की भूमिका मे नयी कविता की तात्कालीन स्थिति स्पष्ट नही होती, बल्कि संकलित कवियो के वक्तव्य, सात छोटी-छोटी भूमिकाओ के रूप मे औ बाद मे नये संस्करण के वक्तव्य, अधिक गम्भीरता से स्थितियों पर प्रका डालते हैं। यह बात अलग है कि जिन राहो के अन्वेषण की बा वात्स्यायन जी ने अपनी भूमिका मे कही, क्या वे राहे अब भी अन्वेषणाधी हैं ? या उन पर प्रवृत्त होकर 'तार सप्तक' के कवि किसी मंजिल प पहुँच चुके हैं ? इनका 'परमतत्व' किस तरह का था ? क्या उन्हे उसक प्राप्ति हो गयी ? मैं समझता हूँ इस बात का स्पष्टीकरण अब 'अज्ञेय' वे वश की बात नही रही। समय स्वयं इसे उद्घाटित करेगा।

●●●

'तार-सप्तक' का नया जन्म

हिन्दी कविता का एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ—'तार सप्तक' इस वर्ष के मध्य संवर्धित रूप मे, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुनर्प्रकाशित किया गया। इस 'ऐतिहासिक दस्तावेज' की उपलब्धि, मूल सामग्री के अतिरिक्त, इस दृष्टि से अधिक है कि संकलित कवियो ने इस संस्करण मे अपनी परवर्ती प्रवृत्तियो पर नये वक्तव्य (पुनश्च) एवं अपनी कुछ विशिष्ट (परवर्ती) कविताएँ दी हैं। ठीक तेईस वर्ष के पश्चात तब के युवाकवि (अथवा कवि युवक)—तब के अन्वेषी—'अब वृद्ध हो गये हैं'। संकलनकर्त्ता और सम्पादक की राय में 'इन सात नये ध्वानी बुद्धो के परस्पर सम्बन्धो मे विशेष अन्तर नही आया है' (दूसरे संस्करण की भूमिका)। सहज ही खयाल आता है कि 'समकालीन अर्थवत्ता की पुष्टि के लिए' प्रकाशित यह महत्त्वपूर्ण कृति इतने वर्षों अनुपलब्ध कैसे रही? क्या इसकी साहित्यिक उपादेयता समाप्त हो गयी थी? शायद ऐसा ही हुआ, क्योकि कवि की हैसियत से 'तार सप्तक' (१९४३) के आधे से अधिक सहयोगी पाँचवें दशक के आरम्भ मे ही निष्क्रिय हो गये थे। इसलिए नवीन संस्करण में पुनश्च (नये वक्तव्य) तथा प्रत्येक कवि की नयी रचनाएँ जोड़ने की आवश्यकता हुई। कृति के ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ सम्पृक्त की गई सामग्री—सात वक्तव्य और इक्कीस कविताएँ—विशेष दृष्टव्य हैं। इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि सातो कवियो के परस्पर सम्बन्धों का नया सूत्र इसमे मिलता है, दूसरा यह कि पुनश्च मे स्वयं कुछ कवियो ने सम्पादक 'अज्ञेय' को कवि की अपेक्षा 'मात्र संकलनकर्त्ता' ही अधिक समझा और 'तार सप्तक' दुश्चक्र की पहली कड़ी जैसा उन्हे जान पडता रहा।

'तार सप्तक' जब पहली बार छपा तब उसके सभी कवि नौकर थे: अध्यापक—प्राध्यापक किरानी या पत्रकार। आज भी नौकर हैं: सरकारी या गैर सरकारी (इनमें मुक्तिबोध हैं नही, जो भौतिक रूप से सर्वाधिक घाटे मे रहे)। सभी शादी—शुदा थे (हैं)। सबको मुर्ग था और गर्वदारा शौक थे (हैं): घुड़ सवारी, बन्दूक बाजी, पहलवानी, संगीत, चित्रकला, फोटोग्राफी, सिनेमा, सिगरेट, घुमक्कड़ी। 'मार्क्सवाद को रामबाण' समझने का उन दिनों फैशन था जिसके शिकार 'सक्रिय रूप में' सप्तक के दो कवि हुए। शेष कम या ज्यादह या उसके आसपास विचारो से प्रभावित रहे। अब सभी अपने को पूर्वांतर स्थितियो से अलग मानते हैं। केवल 'अज्ञेय' तटस्थ हैं। उनके लिए शायद दोनो स्थितियाँ परम्परा—बद्ध हैं। 'मिला न पर पार्थक्य, यहा

में स्वत्व सर्वचल' (पृ० २८५)। मगर तब भी कुछ 'गुत्थियाँ अपने आप सुलझ गयी हैं' (पुनश्च)।

'तार सप्तक' की पुरानी कविताओं की चर्चा करना अब व्यर्थ होगा। उस स्तर के कृतित्व पर पिछले बीस वर्षों में बहुत लिखा जा चुका है। समूची सामग्री एक गुजरे हुए संक्रमण की अभिव्यक्ति है और जैसा कि नेमिचन्द्र जैन ने कहा उसकी मानसिक पृष्ठभूमि 'संस्कार और विवेक की कशमकश' से विघटित है। संकलन की सभी कविताओं के लिए यह उपयुक्त कथन प्रतीत होता है। छायावादी सौन्दर्यभाव से ग्रस्त होकर भी उस वक्त की रूमानी भाषा में निर्वासन और व्यर्थता का बोध 'तार सप्तक' के कवित्व को छू रहा था। महादेवी और पंत के सौन्दर्यपरक बिम्ब, नये छलनात्मक मुहावरों में तब भी वे पकड़े हुए थे। मगर उन्हीं दिनों वैचारिक प्रतिबद्धताएँ भी उनमें साथ ही साथ लक्ष्य की गयी। समूची संक्रान्त मनःस्थिति को मुक्तिबोध ने सबसे अधिक पकड़ा। वही ईमानदारी पिछले तीन दशकों में मुक्तिबोध के काव्य की सर्वाधिक उपलब्धि सिद्ध हुई, क्योंकि 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' की वास्तविक स्थिति का उपयोग करने के लिए वे अन्य मित्रों की तरह 'सुपुष्ट आर्थिक अधिकार' नहीं रखते थे। मुक्तिबोध ने जिस मूल्य पर यह सब खोया, उससे अधिक हमेशा के लिए पा लिया। उन्हें अपने 'कविकर्म' के लिए सफाई देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। भारतभूषण के लिए वही मात्र 'निरन्तर कठिन कर्म होता चला गया'। चौथे दशक में कर्म से पलायन ही जिसकी कविताओं का स्पन्दन रहा वह अगर सातवें दशक के मध्य कविता को अस्त्र न माने तो आश्चर्य नहीं होगा। द्वैत की यह स्थिति अततः अपनी सही परिणति उपलब्ध कर लेती है—'तुक' से चलकर 'तुक्तक' तक आने में (कबू० ई० डी—मनोरंजन)।

अपने वक्तव्य में गिरिजाकुमार माथुर ने 'छायावादी-युग चेतना से सम्पूर्ण विच्छेद का बिन्दु १९४०' माना है, अर्थात 'तार सप्तक' को इतना ही श्रेय दिया जा सकता है कि उसमें 'नयी प्रवृत्ति की उपलब्ध और परिस्वीकृत सामग्री को संकलित किया गया'। श्री माथुर को खेद है कि आलोचकों ने 'संकलन कर्म को नेतृत्व समझ लिया'। उन्होंने शुद्ध रचनात्मक उपलब्धि में निष्पक्ष तुलनात्मक दृष्टि से यह नहीं देखा कि सम्पादक से अधिक परिपक्व और भिन्न प्रकार का कृतित्व 'तार सप्तक' में है (पुनश्च)। इसमें आलोचकों को दोष देना शायद एक तरफा होगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व से ही 'तार सप्तक' की प्रतियाँ उपलब्ध हीं कहाँ थीं? छपी हुई प्रतियाँ अंतिम बार '४३-'४५ में केवल 'तार सप्तक' के कवि-मित्रों के पास ही देखी गयी। फिर ऐसे गुम हुई मानो संकलित कवि ही उसके पाठक मात्र होकर रह गये हों। पहले संस्करण की भूमिका में 'अज्ञेय' ने इसका संकेत भी किया है। प्रचार सिर्फ 'तार सप्तक' और आगामी 'सप्तकों' के कवियों द्वारा हुआ।

स्वयं गिरिजाकुमार माथुर ने 'सप्तकों' की भूमिकाओं पर एक लम्बा पटना से प्रकाशित 'पाटल' (अक्टूबर,'५४) में लिखा था। मगर कवियों में सतर्क और हर स्थितियों में अपने सृजन के प्रति आस्था स्रष्टा के रूप में श्री माथुर का नया वक्तव्य एक सर्वेक्षण अधिक लगता उसमें स्वयं के कृतित्व का काल और प्रवृत्तियों से सम्बन्धित होते रहने प्रति समाधान की कोशिश भी द्रष्टव्य है :

> उपलब्धियों की जो सहज तीखी आँच मुझमें
> क्या करूँ
> जो शम्भू-धनु टूटा तुम्हारा
> तोड़ने को मैं विवश हूँ।
>
> [नया कवि : पृ० १२८]

तोड़ने की यह विवशता प्रभाकर माचवे में 'तार सप्तक' के प्रकाशन के पूर्व से रही है। गिरिजाकुमार माथुर ने आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों को काल खंड में विभाजित करने का प्रयत्न किया, उसे माचवे ने आरम्भ से ही अनुचित समझा। 'असल में काल के मानदण्ड से वाणी का यह वर्गीकरण ही गलत है'। छायावादी स्त्रैण रोमांटिकता से माचवे शुरु से बचते रहे। 'शब्दों की अभिधामूलक लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना शक्ति' में उनका विश्वास रहा। परिणामत: अपने साथी कवियों की तरह वे उस 'रोमांटिक फेलसी' के शिकार होने से वंचित रहे, जिसने 'हमारी आलोचना को नाहक धुंधला बनाया'। शायद उससे अधिक हिन्दी की गैर ईमानदारी ने उन्हें एक चौथाई शती के बाद 'द्विभाषी' मानने के लिए बाध्य कर दिया। इस मजबूरी ने माचवे में पहले से अधिक तल्खी और व्यंग्य दिया, पहले से अधिक गैररूमानियत दी। छायावादी अंदाज से सर्वाधिक कटी हुई मन:स्थिति माचवेजी की थी। इसलिए आज की कविता में गद्य के निकट होते जाने की जो स्वाभाविकता और नकारात्मक दृष्टि उभरी है उनमें माचवे शायद 'तार सप्तक' के कवियों में और से अधिक करीब हैं। एक सम्भावित नैकट्य रामविलास शर्मा की कविता में था। वह सम्भावना उपलब्धि नहीं हो सकी। रामविलास शर्मा को खींच-खांचकर 'तार सप्तक' में लाया गया, क्योंकि उनकी तात्कालीन रचनाएँ अन्य संकलित कवियों की तुलना में अलग रंग की थीं। मगर शर्माजी आरम्भ से ही कविता के प्रति 'सीरियस' नहीं रहे। गद्य में उनकी गति थी। संकलन में उन्हें रखना था। वात्स्यायनजी को अपनी जोड़ का कोई तो 'तार सप्तक' में चाहिए था। स्वयं रामविलास शर्मा ने इसलिये शिकायत भी की है और तब की संकलित कविताओं को अंतिम प्रकाशन माना, जो लगभग सत्य घटित हुआ। 'तार सप्तक' की कविताओं की दृष्टि से रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे और मुक्तिबोध में जो ग्रामीण, आंचलिक गंध और मानवीय संवेदना थी उसका व्यापक प्रभाव बाद की

[illegible]

'अज्ञेय' मानते रहे कि शब्द के अर्थ को [illegible] समस्या शब्दों की अर्थवत्ता से सम्बद्ध है। वह भाषा की [illegible] होती हुई अर्थवत्ता को [illegible] अधिक [illegible], अधिक भाव-गर्भित अर्थ [illegible] है। [illegible] है- [illegible] में और पाठक में। 'अज्ञेय' ने कहा भी है [illegible] गुजारा नहीं निभता।' क्योंकि 'अभिव्यक्ति किसी का दर्द है और किसी दाहक बुद्धि के आगे जवाबदारी है'। 'अज्ञेय' आज भी इस कथन पर दृढ़ हैं। अर्थवान शब्द की समस्या' उनके लिए दायित्व और ईमानदारी दोनों है। इसका मतलब यह हुआ कि रचना-प्रक्रिया के [illegible] 'किसी की किसी पर' अभिव्यक्ति है। हिन्दी का दुर्भाग्य, जैसा कि 'अज्ञेय' ने अनुभव किया, मध्यवर्ग का इतिहास है, और 'अभी तक का दर्द नयी संस्कृति के आविर्भाव का नहीं, पुरानी की जकड़ का या उसकी टूटन का दर्द है'। प्रश्न स्वाभाविक है कि यह 'पुरानी जकड़' किस पर घटित होती है? क्या उसकी टूटन के दर्द से 'तार सप्तक' के सात ध्यानी कवियों का कोई सम्बन्ध है? या कि वे उससे ऊपर उठ गये हैं? या कि एक चौथाई शताब्दी के बाद भी नये से टूटने का दर्द स्वयं 'अज्ञेय' ही अनुभव कर रहे हैं? ऐसा होना तो नहीं चाहिए, क्योंकि 'तार सप्तक' के प्रत्येक कवि ने कविता के भविष्य के प्रति आस्था व्यक्त की है। 'अज्ञेय' यदि उसे आत्म घटित मानते हैं तो बात दूसरी है। इस विषय में पिछले दिनों 'तार सप्तक' के कवियों ने बहुत कुछ कहा भी है। नेमिचन्द्र जैन ने अपने वक्तव्य में 'अज्ञेय' को 'तार सप्तक' में कवि के नाते संकलित नहीं माना बल्कि इसलिए उन्हें सम्मिलित किया गया स्वीकारा कि वे 'उसके प्रकाशन में प्रमुख रूप से सहायक हो रहे थे'। 'तार सप्तक' का समुचित परिवर्धित रूप अब उपलब्ध है। प्रबुद्ध पाठक स्वयं इसका निर्णय कर सकता है कि कौन किस रूप में उसमें संकलित है? और कविता ही अगर संकलन की व्यापक कसौटी रही है तो 'तार सप्तक' कहाँ तक 'दुश्चक्र की पहली कड़ी' (नेमिचन्द्र जैन) सिद्ध होता है, इसका भी परीक्षण किया जा सकता है।

●●●

दो औपन्यासिक कृतियाँ

सद्य: प्रकाशित उपन्यास 'जो' (प्रभाकर माचवे) एवं 'लौटती लहरों की बाँसुरी' (भारतभूषण अग्रवाल) पर कुछ लिखने की आवश्यकता इस दृष्टि से जान पड़ती है कि ये दोनों कृतियाँ बहुचर्चित 'तार सप्तक' (१९४३) के दो कवियों की गद्य-रचनाएँ हैं, जिनकी आधारभूत दृष्टि में एक शाब्दिक अंतर है। सप्तकों के आगामी क्रम में धर्मवीर भारती और नरेश मेहता भी हैं। निस्संदेह जिनकी औपन्यासिक कृतियाँ 'अज्ञेय' के पश्चात हिन्दी में महत्त्वपूर्ण और अनोखी हैं। इस संदर्भ में प्रश्न स्वाभाविक है कि मूलतः काव्यधर्मी आस्था को लेकर 'सप्तकों' के कवि गद्य की कथात्मक विधा को कहाँ तक प्रभावित करने में सफल हुए एवं गद्य के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन किस रूप में हो।

'तार सप्तक' के कवियों में से कथा-उपन्यास को सर्वाधिक प्रभावित किया 'अज्ञेय' ने। स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध ने एक उपन्यास लिखा था, कहते हैं जिसकी पांडुलिपि अमृत राय से खो गयी। इस सिलसिले में दो और कृतियाँ आयी—'जो' और 'लौटती लहरों की बाँसुरी'। परन्तु 'द्वाभा' और 'साँचा' के पश्चात 'जो' प्रभाकर माचवे (४७ वर्ष) की चौथी साहित्यिक कथा-रचना है। अधुनातन बौद्धिक चेतना और दृढ़ता से संरचित यह कृति हिन्दी में पहला प्रयास है जो अमरीकी नीग्रो की पृष्ठभूमि पर आयृत की गयी। 'मेरा उद्देश्य अमेरिका की राजनैतिक-सामाजिक समस्या, काले-गोरे के तनाव, पर कोई निषेधात्मक या समर्थनात्मक मत प्रदर्शित करना नहीं रहा। इस समस्या के मानवीय पक्ष को ही मैं देखता हूँ।' (पृष्ठ ५)। माचवे ने स्वयं इस संबंध में आगे यों लिखा: 'मैंने कई सप्ताहांत (शनिवार–रविवार) शिकागो की गरीब बस्तियों में गुजारे हैं। मैंने यह जो 'जो' नाम की नीग्रो गायक की कहानी लिखी है, इस पर से सब नीग्रो लोगों का साधारणीकरण न कर लिया जाय, ठीक वैसे ही जैसे इस कहानी के स्टीव या मार्था सारे गोरे अमरिकियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। · मेरा किसी से विरोध या द्वेष नहीं है—न अमेरिकी गोरों से, न ब्राह्मणों से, न हिन्दी शुद्धवादियों से। मेरा विरोध हर तरह के अज्ञान और दुराग्रह से, साँचावादी चिंतन से, जरूर है जो हिंसा का मूल होता है।'

'लौटती लहरों की बाँसुरी' भारतभूषण अग्रवाल (४५ वर्ष) की सर्वथा पहली औपन्यासिक रचना है, जिसे स्वयं लेखक ने 'दिवास्वप्न की

शैली में एक भावुक मन की अंतर्कथा' कहा है। मात्र इस तथ्य से यह प्रायोगिक रचना नहीं कही जा सकती, क्योंकि आम उपन्यासों की तरह इसकी वस्तु का स्तर सामान्य पाठकों के हेतु लिखित पाठ्य-सामग्री से कतई अलग नहीं है। शीर्षक से समस्वर होती भावोन्मेषिता को लेकर बार-बार विगत में लौट कर कलेवर को फुलाने की प्रवृत्ति काफी पुरानी हो चली है। अतीत से संचयन करना भी एक कमजोरी है। भारतभूषण अग्रवाल के इस उपन्यास का नायक 'अवकाश के दिनों में बरसों पहले बीते एक प्रणय-प्रसंग का बड़े विस्मय और कष्ट से उद्घाटन करता है और यह देखकर दंग रह जाता है कि उस घटना (जो उपन्यास पढ़ने पर घटना नहीं, बल्कि कैशोर्य भावुकता लगी) ने उसके जीवन में कितना रूप ले लिया है।' कितना कुछ बदल गया है इसी बात को अनावश्यक विस्तार देने के लिए कुल जमा १६४ पृष्ठों में लेखक ने लगभग छत्तीस बार 'फ्लेश बैक' (दिवास्वप्न) का सहारा लिया। कथ्य-सामग्री के अभाव में कुछ बातों को व्यर्थ का विस्तार दिया गया। उपन्यास का फलक बहुत छोटा है। प्रौढ़ प्रतिष्ठित व्यक्ति अशोक (नायक)। सुखद वर्तमान। सम्पन्न और नियोजित परिवार। 'पी० एच० डी०' पत्नी। दो बड़े बच्चे। पत्नी को कॉलेज में नयी-नयी नौकरी। और जैसे कि हर भावुक उपन्यास लेखक की परिकल्पना होती है, वर्तमान समृद्धि के अलावा, इस उपन्यास का नायक कवि है। उसके कुछ कविता-संग्रह छप चुके हैं। शौक केवल दो—सिनेमा और सिगरेट। वह नाटक भी लिख लेता है। कॉलेज छोड़ने के बाद बंगाली और हिन्दी जानने से कलकत्ता में एक साप्ताहिक का संपादक भी रह चुका है। नायक को इन गुणों से विभूषित कर देने के पश्चात् उपन्यास में अनेक बचकानी बातों को भर पाना संभव हो जाता है—मसलन बार-बार कविता का जिक्र, कविता को उद्धृत करने की गुंजाइश एवं अतीत के भावुक प्रसंगों को उद्घाटित करने की सार्थकता। संतुष्ट वर्तमान के साथ 'लौटती लहरों की बाँसुरी' का नायक वर्षों बाद कलकत्ता आता है। वहीं से छत्तीस दिवास्वप्नों का क्रम शुरू हो जाता है, जिसका केन्द्र है एक बंगाली परिवार, और उसमें भी एक लड़की अमिता, जिसका कैशोर्य-सुलभ प्रेम परिपक्व न होकर भी नायक के लिए विछोह, पीड़ा और वर्षों बाद भावुकतामयी स्मृतियों में प्रतिफलित होता है। उपन्यास की ध्वनि कुछ इस तरह की है मानो लेखक (नायक) कहना चाहता है—मुझे अब देखो अमिता, मैं कहाँ से कहाँ आ गया। मैंने कितना कुछ पा लिया। मात्र सीमित परिवेश में इस तरह की सामग्री द्वितीय पुरुष में प्रस्तुत करने के बजाय आत्मकथात्मक शैली में अर्थात् प्रथम पुरुष में लिखी जाती तो ज्यादा उपयुक्त होती।

'लौटती लहरों की बाँसुरी'—शीर्षक जिस भाँति जमाती है, उससे इतर किसी विशिष्ट कथ्य और स्तर की श्रेणी में यह कृति नहीं आती। कदाचित आधुनिक होने की रौ में लेखक ने आरंभ में ही जिस सामाजिक परिवेश को छुआ है, वहीं से उपन्यास के अन्त तक लेखक का हीन भाव बना रहता है। तभी इस कृति में पचासों बार 'रोमांस' का उल्लेख एवं 'रोमांटिक' विचार दर्शाने वाले शब्दों (ऑफिसर, स्वीमिंग-पूल, फोन, पी० बी० एक्स, ड्रेसिंग, रेट आदि) के अलावा फोन पर बोलने के ढंग और 'ऑफिसरों' की भाषा आदि में लेखक द्वारा इस प्रकार रुचि ली गयी कि लगता है यह 'आधुनिक बातें' बताना आवश्यक समझता है।

इस कृति का दूसरा पक्ष भाषागत ढाँचे से संबंधित है, जिसमें अनेकानेक अंग्रेजी शब्द आये हैं। इतना ही नहीं, संवाद-वाक्य अंग्रेजी में न होते और उन्हें मात्र हिन्दी में ही रहने दिया जाता तो भाषा-प्रवाह में फर्क नहीं आता। यद्यपि यथार्थ चित्रण के लिए सहज रूप से अंग्रेजी शब्दों का उपयोग भाषा की समरसता को भंग करता है। पूरे उपन्यास में, जैसा कि मेरे एक मित्र ने गिन कर बताया, कुल ६०६ अंग्रेजी शब्द आये हैं। जो दोष आंचलिक उपन्यासों के संबंध में देहाती शब्द और मुहावरों की बहुलता को लेकर लगाया जाता है, वही आरोप क्या आंग्ल भाषा के शब्दों के सतत अपहरण किये जाने के प्रति नहीं लगाया जा सकता? 'लौटती लहरों की बाँसुरी' मेरे मेज पर फेंकते हुए मित्र बोले, 'हिन्दी तो भल्ला की गाय है, जैसा चाहो उसका उपयोग करो। कोई नहीं रोकता। फिर चाहे एक ओर फोन का चोंगा उठाकर उसे 'पालने' पर रखने की सावधानी लो, चाहे अंग्रेजी के शब्दों को हिन्दी ढंग से बहुवाची बना कर (यथा—कापीटीशन—कापीटीशनों) हिन्दी की दुहाई दो।

कहना असंगत न होगा कि यह कृति 'तार सप्तक' के कवि के मानसिक स्तर के अनुरूप नहीं है। यह किसी बड़ी बात का संकेत नहीं करती, वरन लेखक की भावुकताभरी हीन ग्रन्थियों में घुटती गीत-परक वृत्ति को ही गद्य में आँकती है।

ठीक इससे भिन्न 'जो' का परिवेश है, जिसके कथ्य में नयापन है। माचवे 'तार-सप्तक' के केक्टसी स्वभाव वाले 'एंटीरोमांटिक' कवि हैं। 'जो' लिखते समय भी उनके अंतर्मन में भारत के वर्ण-द्वेषी प्रश्नों और जातीयवाद की समस्याएँ रहीं, जिन्हें उन्होंने अमरीका के अत्याधुनिक परिप्रेक्ष्य में समझना चाहा। माचवे के कवि-आलोचक व्यक्तित्व को उभारती यह कृति जितनी सहज है उतनी ही साहित्यिक, विचारोत्तेजक एवं कविता का मजा देती है। डायरी का कहीं-कहीं रंग देती यह रचना यात्रा-स्मृतियों को छूती है, चोट करती है एवं माचवेजी की अखंडता और व्यंग्य गुणों को निरावृत्त करती

'मुक्ति' का इस सन्दर्भ में जिक्र किया जा सकता है। चूँकि 'तार सप्तक' से इस कवि का सिलसिला जुड़ा है, और मुक्ति के लिए एक छटपटाहट उसमें आरम्भ से रही है, इसलिए उसका उल्लेख करना और भी उपयुक्त लगता है। 'छवि के बंधन' (गीत-संग्रह) में उपलब्ध पराजय और पीड़ा का स्वर 'जागते रहो' में आकर लाल जवानों का पानी नापने लगा। पर 'जो अप्रस्तुत मन' में फिर लौट कर वह अपनी कुंठा, रहस्यमय गुहा और अहं की व्यावसायिक छटपटाहट में दूसरी तरह मुक्त होना चाहता है। यद्यपि 'मुक्ति' (कविता ?) को पढ़कर मुझे दिनेशनन्दिनी डालमिया के गद्यगीतों का स्मरण हो आया, फर्क इतना है कि इस रचना की पंक्तियाँ अलग तरह से नियोजित कर लिखी गयी हैं, जबकि उसमें छिद्दा हलवाई, करीम तसवीरसाज, श्यामलाल कागजी, किशन अत्तार, बुद्धिमल मुनीम, शंकर पुजारी, छीपी घसीटा, सेवक बजाज, लछमन पंडा, राधेश्याम वैद्य और छबीली मिसरानी जैसे नाम यों गिनाये गये हैं, मानो कोई नौसिखिया कहानी लेखक अपने मोहल्ले का जिक्र कर रहा हो। कवि बार-बार जोर देकर कहना चाहता है—'नहीं, मैं जेल में नहीं था' और फिर प्रायश्चित के बतौर अंजुली भर जल अर्पण कर विश्वास दिलाना चाहता है कि वह मुक्त है। सौन्दर्य बोध की चर्चा में इस रचना का खयाल मुझे इसलिए भी आ गया कि अक्सर कविता में इस तरह अकवि हो जाना कहाँ तक उपयुक्त है ? एक सीधा-सपाट असर चाहे ऐसी रचनाएँ भले ही डाल दें पर उनमें सिवा औसत दर्जे की उपलब्धियों से अधिक कुछ नहीं होता।

कालसापेक्ष संवेदना के अन्तर्गत जिन नये मूल्यों की अपेक्षाएँ काव्य-सृजन की प्रक्रिया में आवश्यक हो गयी हैं, वे केवल संकुचित वैचारिक स्थितियों में पनपने से रहीं, बल्कि विकसित होने के लिए उनके पीछे एक व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है। एक गहरी समझ चाहिए, जिसमें केवल यथार्थ बोध ही पर्याप्त नहीं, संवेद्य प्रतीकात्मकता, निष्ठावान कला-बोध, एवं जीवन्त साहित्य दृष्टि हो।

किन्तु आश्चर्य तो तब होता है कि आधुनिकता के समर्थक कई कवियों का बोध सिर्फ सतही लगता है। उनकी दृष्टि तल तक नहीं जा पाती। तमाम वैविध्य में सौन्दर्यबोध का जिक्र करते हुए मुझे लगता है कि बाहर की असंतुलित वैचारिक बकवास, वक्तव्य और स्वयं को स्पष्ट करने में व्यक्त करने में कदापि नहीं है। जो हम देखते हैं, उसे तो कैमरे की आँख भी देखती है। फिर हमारी दृष्टि जैसी अभिव्यक्तियों में कविता का स्वरूप क्या रहा ? इसी विचार से मुझे सौन्दर्यबोध की विकासात्मक, अन्तर्पार्श्ववादी, विद्रूपात्मक, अमूर्त, अस्तित्ववादी, विद्रूप, धर्मसिद्धान्तवादी, और प्रभाववादी रूपों में

गहन दार्शनिक दृष्टि से सामाजिक मानबोध, रंगगत संवेदना एवं आधुनिक कुंठात्मक स्वर्ग आवश्यक प्रतीत होते हैं । जीवन के संतुलन, विविध घटनाचक्रों और प्रति-अवरोधों में समान रूप से प्रवहमान करुणा, कुंठा, वैराग्य, उद्भ्रान्ति, संत्रास आदि से जहाँ विरक्त है, सर्वग्राहिणी दृष्टि है, वहीं इन्द्रिया वस्तु के परे भी बहुत कुछ है जो अन्वेषक कलाकार के अन्तर्मन को बाँध लेता है। शायद इसी आग्रह को कमजोर अनुभूतियों (जिन्हें वे बासी समझते हैं) के आगे की स्थिति मानते हैं । और ऐसी तमाम सूक्ष्म एवं भावना स्थितियों के मूल में अनुभावन रंगों का अन्तर्दर्शन निहित है । इस नाते आधुनिकता-बोध का एक आवश्यक अंग और यहाँ तक कि जीवन में सम्पृक्त भाव-भंगिमा भावनानुरूप सुरुचि का सुबोध एक मोटे अर्थ में, काव्याभिव्यक्ति के अन्तर्गत 'रंग-नियोजन' में समाहित है ।

लेकिन निराशा हुई जबकि इस सर्वेक्षण में एक पूरी पीढ़ी ऐसे कवियों की पायी जिनकी रचनाओं में रंग हो क्या, जीवन-वैविध्य के प्रति न तो कोई आस्था है, न अभिव्यक्ति में सुघड़ बिम्ब जिन्हें 'रंग संयोजन' से संश्लिष्ट कहा जा सके । दूसरे शब्दों में ऐसे कवि रंगांध हैं, रोगी हैं । इनमें से बहुतेरे शहरों में रहते, कलाकारों और कलाप्रदर्शनियों के प्रेमी हैं, और कई तो चित्र की प्रवृत्तियों और कलाकारों की प्रायोगिक विधाओं पर लेख भी लिखते हैं, कविताएँ भी लिखते हैं, पर उनकी कविताओं का स्तर, रंग की दृष्टि से नितान्त साधारण, सतही, रवि वर्मा शैली के चित्र के ढंग का है । लगता है ये लोग एक अँधेरे बंद कमरे में बैठे स्वनिर्मित सुई की नोक वाले कमरे से अपने अंधे होने का परिचय दे रहे हैं। परम्परावादी काव्य को छोड़ दिया जाए तो आधुनिकतावोध के परिप्रेक्ष्य मे यह दृष्टि बहुत कम कवियो मे मिलेगी । अज्ञेय, भारती, नरेश मेहता, गिरिजा-कुमार माथुर, जगदीश गुप्त, हरि व्यास और कुछ अन्य कवि इस आरोप के अप-वाद हैं । अतिरिक्त इनके, एक बड़ी संख्या उन कवियो की भी है जिन्हें अपने आसपास की दुनिया फोटोग्राफवत लगती है । उनमे न तो रंगो की अनुभूति है, न उनकी विविध कान्ति पहचानने की सुरुचि । वे शायद रिल्के, लोरका, एजरा पाउंड, कमिंग्ज, येवेतुशन्कु, गिन्सबर्ग, डोनाल्ड हाले, पिलट या थियोडोर रोथे के पाठक होकर भी बोथरे लगते हैं । उन्हें कदाचित अपने आसपास की वस्तुओं में केसरिया, नीले, गन्धकी पीले, धूमिल पीले, तूसी, गहरे लाल, बनफसी आदि रंगों और उनके उपभेदों की पहचान नहीं और न उनकी कृतियों में काव्यगत आयातमकताएँ हैं ।

आक्रोश का भद्दा (मदेसी) अर्थ हो सकता है, केवल वक्तव्य देना । वक्तव्यों की समाचार-पत्री भाषा में चाहे लेख लिखे जा सकें या 'रपट' लिखी

जा सके, कविता नहीं होती। यह दोष कमोबेश रूप में हिन्दी की अनेक कविताओं में दिखाई पड़ता है। सपाट वक्तव्य, कुछ टेबिलें, टूटे गिलास, फटे मेजपोश और बदनाम औरतों के साथ अपने नंगेपन का इजहार इतनी उबाने वाली बातें लगती हैं कि कविता पढ़ने के बजाय कोई हेनरी मिलर का 'ट्रापिक ऑफ़ केन्सर' ही पढ़ ले। यह आत्मघाती प्रवृत्ति अथवा यौन विकृति किस सीमा तक आधुनिक है ? इस वृत्ति का एक जलजला काफी पहले यूरोप में आकर चला गया है, और अब तो इस श्रेणी के साहित्य को साहित्य न कह कर 'उपसाहित्य' की संज्ञा दी जाने लगी है। फिर वस्तु परे की स्थिति के साथ एकात्म होने की बात इस तरह की व्यंजनाओं के सन्दर्भ में कोई कहाँ तक सोच पाएगा ? लगता है, कवि यहाँ स्वयं ही अपनी काव्यात्मक जीर्णता को रफ़ू करने का प्रयत्न करता है।

कुछ और भी रंगान्ध कवि हैं, त्रिलोचन, अजित कुमार, रघुवीर सहाय, दुष्यन्त कुमार वगैरह। दुष्यन्त कुमार के 'सूर्य का स्वागत' की कविताओं में जहाँ रूमानियत है, वहाँ शिथिलता भरी कलादृष्टि भी मिलती है। अधिकतर कविताएँ पौराणिक प्रतीकों का सहारा लेकर भी संयोजित सौन्दर्य की कसौटी पर प्रभाव-हीन लगती हैं। आयु के साथ न तो काव्य का विकास हुआ न बौद्धिकता लक्षित हुई, इसके बचकानी कैशोर्योन्मुख सहाय कवि के जीवन को एक अंधे सूत्र की ओर ढकेलती प्रतीत होती है।

.. किन्तु तुम
सुनो—
सुन अभी पिघल जाओ
तोड़ो दीवारों को
बाहर आओ—मिल जाओ
क्योंकि हमें मिलना है

जैसी पंक्तियाँ पढ़कर लगता है कि फिल्म का कोई उभरता हीरो अपनी रटी-रटायी फिल्मी भाषा का प्रयोग कर रहा हो।

कहना अनुचित न होगा कि इस तरह की रचनाएँ पढ़ कर लगता है कि इस कोटि के कवियों ने जीवन को गहराई से भोगा नहीं। मगर इनकी लाचारी है। इन्द्रिय बोध और कला रुचि के अभाव के कारण वे अपेक्षित भाव को पकड़ने से चूक जाते हैं और बँधी-बँधाई शैली में भाषण अथवा आदेश देने लगते हैं। संवेदनानुकूल एवं संवेगात्मक भाषा में रचना करना आसान नहीं। काल-सापेक्ष आत्म-अर्पण, सम्पूर्णतः सौन्दर्यानुभूति और नयी समझ के अभाव में ऐसी रचनाएँ कला की अन्य विधाओं की तुलना

से बीस-पच्चीस वर्ष पुरानी और घटिया लगती हैं। अपने ही वृत्त में भटकने वाली वृत्ति के कारण कई कवि अपने आसपास के जीवन को पहचानने में अक्षम लगते हैं—एकदम रंगान्ध व्यक्तियों-सा आचरण करते हैं। क्या हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि आज जिस स्तर पर रामकिंकर, बिलग्रामी, श्याम श्री घोष, वेन्द्रे, गुन्नाम, रैवा, हिम्मतशाह आदि चित्रकारों की कृतियाँ हैं उस तक नयी कविता पहुँच सकी है? स्तर से मेरा आशय उस कोटि के जीवन्त जिज्ञासाबोध और कथ्य से है जिसे नयी गमक और शैली में प्रस्तुत किया जा सके। •••

एक पत्र और पत्रोत्तर

[कल्पना, अगस्त'६५ मे श्याम परमार की 'एक विद्रूपम्' शीर्षक[१]
ी रंग-कविता देखने को मिली। जितने अज्ञान से वे हिन्दी नयी कविता मे
रंगानुभूति की वकालत पिछले कुछ वर्षों से कर रहे हैं, उतना ही असंगत
उनका यह रंग का प्रयोग है। 'एक विद्रूपम्' नाम देकर अपनी वफादारी
ा कैसे बचाव किया जा सकता है, यह कविता उसका ज्वलंत उदाहरण है।

काव्य मे रंगानुभूति मूलत आन्तरिक चेतना से सम्बद्ध है। इन्द्रिय
द्वार पर जो प्रभाव (बाह्य जगत् का) मन ग्रहण करता है, प्रकाश अन्धकार
के विविध आयामो के कारण अन्तश्चेतना उसे पहले विविध रंगो मे बदलती
है और तब प्रस्तुत अनुभूति के अनुरूप कुछ प्रतीक अथवा बिम्ब जो अत्यन्त
सार्थक होते हैं, वहाँ उभरते हैं और हमारी बाह्य काव्य अथवा कलाअनुभूति
रंगो के लेप से युक्त हो जाती है।

रंगानुभूति का यह ज्ञान सर्वाधिक सार्थक चित्रकार को होना है,
क्योकि बाह्यान्तर अनुभवो को समझने की उसकी वृत्ति विशुद्ध रूप से रंगमयी
होती है। शब्द का आग्रह जिस भाति कवि के समक्ष है उसी भाति रंग का
चित्रकार के समीप और स्वर का संगीतकार के तई।

इन सब बातो को ध्यान मे रखकर मानसिक विद्रूप की अवस्था
को रंगमयी करके देखें, तो श्री श्याम परमार की अनुभूति बिलकुल छिछली
और सतही लगती है। उन्होंने बाह्यानुभूतियो को ही मनचाहे रंगो से भर
देने की कोशिश की है, जिसके फलस्वरूप रंग उनकी अनुभूतियो मे विशेषण
मे अधिक मौलिक होकर न आ सके, जबकि चित्रकार के समीप रंग बिम्ब
विशेषण नही होते, संज्ञाएँ होती हैं और प्रस्तुत स्थितियाँ उनके पूरक अथवा
विशेषणों के रूप मे आती हैं। इन सब बातो का अनुभव मुझे इसलिए है
कि शब्द प्रतीको को रंग प्रतीको मे बदलने का प्रयोग कुछ वर्षों से कर
रहा हूँ।

हिन्दी नयी कविता मे क्या, विश्व की कविता मे भी, फिलहाल, इस
एक माध्यम से दूसरे माध्यम मे गुजरती हुई चेतना की बात बहुत न्यून रूप

---

१ 'विकल्प' मे संकलित।

सकता कि रंगानुभूति-विहीन कविता कवि के रंगान्ध होने का प्रमाण है। यो कि रंगान्ध स्थिति निश्चय ही काव्य में परिलक्षित की जा सकती है। दूसरे, चित्रकला की समरसता में काव्यगत रंगरचना की ओर आकृष्ट होने में ही इस विषय की सार्थकता स्पष्ट नहीं होती। कविता में यत्र-तत्र शब्दों द्वारा रंगों का उल्लेख करने से न ही रंग बिम्बों की सृष्टि होती है। दरअसल, रंगानुभूति एक ऐसी समग्रता को अन्तर्निहित किये होती है जो चित्ररूपी प्रतिमा को शब्दों के माध्यम से अलग स्तर प्रदान करती है। इस स्तर पर काव्यानुभूति चित्रकला से कहीं अधिक उत्कृष्ट स्थिति में होती है। काव्य की यह स्फोमयता मातृकताजन्य नहीं होती। एक भी ऐसा शब्द जो विशिष्ट रंग का उल्लेख करता है, प्रयुक्त किये बिना कविता अपने बिम्बों द्वारा चित्रगत अनुभूति का आभास दे सकती है। वह अपने भीतर से समुचित कथ्य द्वारा विभिन्न रूपों में चित्रपरक अनुभूतियों की उद्भावना कर सकती है—यही कवि के अन्तर में सरचना करते चित्रकार की सही प्रतिक्रिया होगी। अतएव, जाने-अनजाने रंगों के प्रयोग के प्रति कवि को आदेश देने का प्रयास संगत नहीं लगता। यह प्रश्न चित्रकार के लिए उठाना भी अनुचित प्रतीत होगा। कलागत रूढ़ियाँ जब टूटती हैं, तब इस कोटि की पाबन्दियाँ काम नहीं करतीं। चित्रकला में किये जा रहे अनेक प्रयोग इस बात के साक्षी हैं। रंगों का लेपन तो दूर रहा, लकड़ी के तख्तों को यहाँ-वहाँ जला कर, कीलें और लोहे की चद्दरें ठोक कर अथवा टाट के चिन्दे और तुड़े-मुड़े कैनवैस की कतरनों को रंगों के लौंदों के साथ चिपकाकर चित्रों की रचना की जाती है। तब काव्य-विधा में विद्रूप की स्थिति स्वीकार करने से क्यों कतराया जाए? कतराना दुराग्रह होगा, जाने-अनजाने रोमैटिकता को सहेजना मात्र होगा।

मुझे लगता है, श्री प्रकाश परिमल छायावादोत्तरीय धूमिलता में रंगानुभूति के तत्व खोजने की कोशिश करने लगते हैं। 'शब्द प्रतीकों' को 'रंग प्रतीकों' में बदलने की उनकी क्या पद्धति है, मैं नहीं जानता। अजब ही यह कोई 'फार्मूला' होगा। परिमल जी रंगानुभूति के विषय को 'काव्य में उभरती हुई नवीन विधा' मानते हैं। लेकिन इस किस्म की अनुभूति सनातन है। कालिदास के काव्य में इसके सैकड़ों उदाहरण उपलब्ध हैं। पंत में यह प्राप्य है। गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर आदि में तो है ही, आज के अनेक नये कवियों में इस अनुभूति के विविध रूप सहज ही प्राप्य हैं। यह एक प्रकार की अतिरिक्त अनुभूति है जिसे काव्यानुभूति के धरातल स्तर पर प्राप्त किया जा सकता है। कविता में बार-बार रंगों (विशेषणों) के प्रयोग

से देखने को मिलती है। जो कुछ है यह सीमित और अनजाने आयी है। 'कत्थई गुलाब थामे' और प्रतीक्षित रक्त बदली वाले कुछ प्रयोग रंगानुभूति के सार्थक प्रयोग हैं लेकिन ये सम्पूर्ण काव्य में रंग संचेतना के संवाहक रहे हों, यह बात दिखती नहीं है। श्री परमार द्वारा रंग से बोझिल की हुई इस कविता में रंग चेतना के संवहन का यह जबरदस्ती का प्रयास दिख जाता है।

मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप अनजाने में रंगों के प्रयोग कर लेने वाले कवियों से उनकी रंगानुभूति पर राय मांगें और देखें कि किस प्रकार श्री परमार उन्हें गलत 'इंटरप्रेट' कर रहे हैं। श्री शमशेर, केदार, गिरिजाकुमार माथुर आदि इस प्रकार के प्रमुख कवि रहे हैं। श्रेष्ठ तो यही रहेगा कि ये लोग काव्य में रंगानुभूति पर कोई ठोस बातें बताएँ और काव्य चेतना में उभरने वाली रंगानुभूति का सही विश्लेषण करें।

श्री श्याम परमार की कविता में विशेषण रंगों के ये प्रयोग अत्यन्त छिछले लगते हैं : 'सोनपाखी विष-नीली नजर का घाव आवारा। बैंगनी पलकें।'

उनकी कविता पढ़ने से उनकी विद्रूप मनःस्थिति का ज्ञान तो होता है पर उसे रंगानुभूति में बदलने का उनका प्रयास बिलकुल बचकाना और मुदर्रिस टाइप का ही लगता है। मैं चाहता हूँ, आप इस पत्र का प्रकाशन कर काव्य में उभरती हुई इस नवीन विधा के सम्बन्ध में ऊँचे स्तर से चर्चा करवाएंगे। —प्रकाश परिमल]

'एक विद्रूपम्' कविता को न तो मैंने कहीं 'रंग कविता' कहा है, न 'रंग प्रयोग'। उसे 'रंगानुभूति में बदलने का प्रयास' भी मेरी ओर से नहीं हुआ। फिर यह भ्रम श्री प्रकाश परिमल को कैसे हो गया, मैं नहीं जानता। 'एक विद्रूपम्', वस्तुतः जैसा कि श्री परिमल ने समझा है, एक मनःस्थिति ही है—'मानसिक विद्रूप' ही है। मैं नहीं सोचता कि काव्यगत प्रत्येक मनःस्थिति रंगमयी होती है। इस तरह का कोई आग्रह भी मैंने इस कविता के प्रति व्यक्त नहीं किया। रंगानुभूति का प्रश्न तो एक तरह से अलग चीज है। सम्भवतः यह प्रश्न मेरे पूर्व प्रकाशित लेखों ('कल्पना' में प्रकाशित एक टिप्पणी और 'हिन्दी काव्य में रंगतत्व' शीर्षक 'आलोचना' जनवरी'६४ वाला लेख) के संदर्भ में संचित स्मृतियों के कारण इस [illegible] के निमित्त परिमल जी के मन में उभर आया लगता है। फिर भी, [illegible] में कुछ स्पष्ट करना मैं अवश्य चाहूँगा :

काव्यगत रंगानुभूति एक संस्कार है। आवश्यक नहीं, प्रत्येक कवि को प्राप्त हो। उस स्थिति में यह भी आरोपित

गरम हवाओं का ऑक्टोपस

[illegible] ([illegible]), [illegible], और [illegible] के [illegible] की अभि-व्यक्ति है। [illegible] (?) की [illegible] महानगर में निर्दिष्ट है। [illegible] (?) की ऊँची [illegible] का कोलाहल उस मनुष्य की त्रासदी है जो नगरों की कोठों के अन्दर है। शिल्प, साहित्य और कला उसी अपने अस्तित्व को अर्थ देते हैं और जब उन्हें सभ्यता की [illegible] में [illegible] कर सबको [illegible] घोषित करते हैं, तब लगता है वर्तमान परिवेश का संदर्भ केवल आज का सरोकार ही नहीं, भविष्य की त्रासदी भी है। हो सकता है जिस अर्थ में आज हम त्रासदी को ग्रहण करते हैं तब वह उस अर्थ में रहे ही नहीं। यह भी कैसे मान लिया जाये कि इस प्रकार त्रासदी को संदर्भ देने वाली सभ्यता की सही तसवीर शहर है? क्या यह बहुत कम लोगों को आरोपित सत्य नहीं? इस तसवीर से जहाँ अन्तरिक्ष यात्रा की उड़ानें नियोजित हैं, युद्ध की गरमी सुलगती है, वयस्कों के साथ 'रॉक एण्ड रोल' का शोर है, प्रदर्शनकारियों की झगड़ें, दुर्घटनाएँ और अभिजात्य सारल्य है, वहीं तसवीर के बाहर, चौगट पर ही, पेड़ों पर रहने वाले इन्सानों के कबीले और नगर की सभ्यता की तनिक भी न जानने वाली आदि सभ्यता का स्तर है। इस मिली-जुली सभ्यता का दुर्भाग्य है कला और साहित्य, जो दिमागी सम्भ्रान्त-कौलिन्य की अभिव्यक्ति है–मामूली प्रतिभाओं के अहमन्युंजों का आरोप है। यह त्रासदी उनकी भी है जो सह-संयोजित जिज्ञासा और भोग की सृष्टि करते हैं। तब शोर उनकी धड़कन हो जाता है। 'जाज' इस माने शहर का सही उबाल है और इस उबाल के भागी 'ग्रीलर्स', 'स्ट्रिप्टीज', 'बेबरेज', 'बीट-सेशन' आदि समाधान हैं। मगर ये ऊब और उबाल उनकी ट्रेजडी भी हैं, जो उनमें नहीं हैं। मुक्तिबोध की त्रासदी जैसे उनके मित्र रहे या आधुनिक चित्रकला के विविध प्रतिमानों के भारतीय पोषक पश्चिम की त्रासदी हैं।

मशीन की तरह महानगर के अंग चलते हैं। हर अंग पर क्षण-क्षण में नयी मशीन उग आती है और उसके पेट की आतंडियाँ मुद्रा के लिए शरीर के ऊपर-कटीले तारों की तरह लिपटती जाती हैं। तारों की कटानों पर ज़हर की तेजी है, और मशीन को चलाने वाले हाथों में दिशाहीन छटपटाहट भरी है। काफ्का हों या कामू, सार्त्र हों या रिल्के सबकी कोशिशें व्यर्थ होती जाती हैं। महानगर की घृणा, विभ्रान्ति, सन्त्रस्त-विड्म्बना और चीखें हर क्षण दरक जाते हैं।

यह युद्ध है जो कुंठाओं में गहरा होता है। इसलिए आज की चित्र-कला या कविता का कोई निश्चित फिनामिना नहीं है : वह तमाम डिसगस्ट तृष्णाओं का सत्य है जो गडमड और बेतुका लगता है। इसलिए एक के अकेलेपन की प्रतिक्रिया दूसरे का आधार बनती है और ऊब का सिलसिला कला के मुहावरे बनाता जाता है। चित्रकार का अकेलापन महुसम्बन्धों का अकेलापन है। उसे अपने से बाहर अपनी कृतियों के प्रति सार्थक सहानुभूति की अपेक्षा है। अतः उसका व्यक्तित्व 'इन्वाल्व्ड' होता है, मगर उसका अदाज दुर्बोध और संक्रान्ति से मुक्त नहीं होता। मुक्त केवल उसके विषय होते हैं। पिकासो ने जिस दृश्यजगत को दृष्टि के रूढ़ आयामों से मुक्त किया, उसी जगत को सौन्दर्य की मान्यताओं से उसके साथियों और आगामी पीढ़ियों ने मुक्त किया। कुरूप एक 'कल्ट' बन गया। अनघढ़ता, टूटन और खुरदरापन इनके सन्दर्भ बदल गये। कुरूप धर्मा अभिव्यक्ति ने चित्रकला के घेरे तोड़ डाले। इसने सत्य की पर्तें चीर दी। 'ऑप कला' हो या कबाड़िये की चीजों से बनाई हुई कृतियाँ, हिम्मतशाह चित्रों में उनभा हु दीमाग हो या वीटागुओ या 'चिएन' ढंग के चित्र, मोहन समन्त के आर्त पैदा करने वाले रंग हो या बालकृष्ण पटेल के फूहड़ चित्र, ज्यामिति में जा खोजने और तंत्रचक्रों में भटकने वाले स्वामिनाथन् का अव्यक्त जगत हं या शान्ति देव (काला भंवर) और कुलकर्णी (विस्फोट, दो के लिए) डरावने चित्र या अम्बादास की मेरे अदर बहती गर्म हवाएँ अथवा सुस राज की कृति 'यात्रा'...सबका परिवेश घातक है। हत्यारे यथार्थ का भूख अहम् खाज की तरह तमाम चित्रों की वहशी अभिव्यक्ति में केनवास प फैलता जाता है। इस प्रक्रिया में जो हाहाकार है, वह किस रूप मे त्रासद होगा, कहना कठिन है। शायद भविष्य में इस बात को इसी दृष्टि से देख का प्रश्न ही पैदा न हो।

•••

परजीवी साहित्य

प्राय ऐसा होता है कि किसी रचना अथवा कृति के प्रकाशित होते ही उसके पक्ष-विपक्ष और सन्दर्भ मे बहुत-कुछ लिखा जाता है—कभी-कभी जो वास्तविक रचना के कलेवर से कई गुना अधिक होता है—और ऐसा भी होता है कि अच्छी कृतियाँ और रचनाएँ उपेक्षित कर दी जाती हैं। दोनों स्थितियों मे सम्बद्ध-प्रक्रियाएँ अधिकतर सायास होती हैं। इनमे उपेक्षा की स्थिति निश्चय ही घातक है, जबकि प्रथम स्थिति मे कुछ अशोपलब्धि उपादेय अवश्य हो जाती है। इसलिए कि उस स्थिति मे जो भी वास्तविक कृति के सन्दर्भ में लिखा जाता है वह सृजनपरक साहित्य के नैरन्तर्य को तनिक अस्तित्व देता है, कुछ आधार प्रदान करता है। चाहे फिर आलोच्य कृति को वह अधिक समय तक जिला न सके। ऐसा समस्त साहित्य अल्पजीवी होता है। वह साहित्य होकर भी साहित्येतर होता है—वस्तुत उपसाहित्य होता है। और उपसाहित्य का अधिकांश उस कोटि का होता है, जो विस्मरणीय है। सामयिक दृष्टि से ऐसा साहित्य प्रवृत्तियों, विवादो और आस्थाओं को प्रश्रय देता है, जिसके कारण कतिपय सृजनपरक रचनाएँ सन्दर्भ-विहीन होने से बच जाती हैं। उपसाहित्य तो निश्चय ही कालान्तर में विस्मृत कर दिया जाता है, पर उन कृतियो का भी वही हश्र होता है, जिनकी प्रशंसा में मित्रो द्वारा बहुत ढोल पीटे होते हैं। वही रचनाएँ शेष बचती हैं, जिनका इतित्व सन्दिग्ध नही होता, जो सामयिकता के वृत्त से निकलकर प्रजा को प्रभावित करने का सामर्थ्य रखता है। सगत होता है। इसके विपरीत दायित्वहीन साहित्य समय-सापेक्ष होकर भी काल के आगामी चरण तक नहीं पहुँचता, वह अपनी कोई छाप नही छोड़ता। कमजोर कृतियों के पक्ष मे चाहे कितने ही कोरे कागज रँगे जायें, विवादों को जन्म दिया जावे, पारम्परिक प्रशसाएँ की जायें, चर्चाएँ चलायी जायें, गोष्ठियाँ की जायें, विमोचन-समारोह आयोजित किये जायें, मित्रो के पत्र छापे-छपवाये जायें, टिप्पणियों और सम्मतियों का अम्बार लगाया जावे, पर वे कालजयी नहीं हो पातीं। उपसाहित्य के टेक बड़े कमजोर होते हैं। छायावाद को लेकर क्या कम लिखा गया ? समर्थ आलोचकों और समालोचकों की लम्बी पीढ़ी उठ खड़ी और काल के प्रवाह मे उसका साहित्य (उपसाहित्य) व्यर्थ हो गया। इतना ही क्यों सृजनपरक छायावादी काव्य का कितना अंश है जो आज की पीढ़ी के विवेक और मन को (साहित्य बोध) सम्पूर्णतः आज के रूप में स्वीकार है ? संयोगवश यहाँ भी विद्यालयीन पाठ्यक्रमों में अनिवार्यतः लिख पीढ़ी के

यह युग है जो कुंठाओं में गहरा होता है। इसलिए आज भी चित्रकला या कलाकार का कोई निश्चित सिलसिला नहीं है : यह तमाम दिशाशून्यताओं का सत्य है जो गडमड और बेतुका लगता है। इसलिए एक ओमेशन की प्रतिक्रिया दूसरे का आधार बनती है और ऊब या मिलमिचमा के मुहावरे बनाता जाता है। चित्रकार का अकेलापन गहमगहमी का अकेलापन है। उसे अपने से बाहर अपनी कृतियों के प्रति सार्थक सहानुभूति की अपेक्षा है। अतः उसका व्यक्तित्व 'इन्वाल्व' होता है, मगर उसका अहम् दुर्योग और संक्रान्ति से मुक्त नहीं होता। मुक्त केवल उसके चित्र होते हैं। पिकासो ने जिस दृश्यजगत को दृष्टि के रूढ़ आयामों से मुक्त किया उसी जगत को सौन्दर्य की मान्यताओं से उसके साथियों और आगामी पीढ़ियों ने मुक्त किया। कुरूप एक 'कल्ट' बन गया। अनगढ़ता, टूटन और खुरदरापन इसके सन्दर्भ बदल गये। कुरूप धर्मी अभिव्यक्ति ने चित्रकला के घेरे तोड़ डाले। इसने सत्य की पर्तें चीर दीं। 'ऑप कला' हो या कबाड़िये की चीजों से बनाई हुई कृतियाँ, हिम्मतशाह चित्रों में उलझा हुआ दीमाग हो या कीटाणुओं या 'चिएन' ढंग के चित्र, मोहन समन्त के आतंक पैदा करने वाले रंग हो या बालकृष्ण पटेल के फूहड़ चित्र, ज्यामिति में जादू खोजने और तंत्रचक्रों में भटकने वाले स्वामिनाथन् का अव्यक्त जगत हो, या शान्ति देव (काला भंवर) और कुलकर्णी (विस्फोट, दो के लिए) के डरावने चित्र या अम्बादास की 'मेरे अंदर बहती गर्म हवाएँ' अथवा सुरई राज की कृति 'यात्रा'...सबका परिवेश घातक है। हत्यारे यथार्थ का भूखा अहम् खाज की तरह तमाम चित्रों की वहशी अभिव्यक्ति से केनवास पर फैलता जाता है। इस प्रक्रिया में जो हाहाकार है, वह किस रूप में त्रासदी होगा, कहना कठिन है। शायद भविष्य में इस बात को इसी दृष्टि से देखने का प्रश्न ही पैदा न हो।

•••

'एक थी हिरनी' ७५
'एक भारती आत्मा' ८४
'एक पोयेशाय एकटि' ११७, १२३
'एक विद्रूपन्' १३६, १४०
'एक सिगहुट का गीत' ५५
'एक हत्याकाण्ड की स्मृति में' ५१
एजरा पाउण्ड ३५, १३६
एन्टी गीत ४६-५१, ५५, ६०
एन्टी थियेटर ३३
एण्ड्रू मारवेल ८८
एब्सर्ड ३, १२, ६४, ७८, १४३
एब्सर्ड हीरो ६६
एब्स्ट्रेक्ट फार्म १०४
क-ख-ग ६४
'कनुप्रिया' ६६
कंठे महाराज ३४
कठोपनिषद् ६७, ६६
कबीर ६८
कमलेश्वर ४०
कर्मभूमि ११७
कमिंग्ज ६०, १०४, १३६,
कल्पना ४६, १०२, १११, १३४,
१३६ १४०
कल्पवृक्ष' ६६, ७५
कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ (डॉ० नगेन्द्र)
७२
कविताएँ शिवचन्द्र शर्मा की' ७७
ति १०२
कृष्णा हैबर १००
कृष्ण पक्ष' ७६
कान्ता ४५
कान्स्टेबुल १००
काठ का आदमी' ७२
कामू ६, २५, ५४, ६५, ६६, १४३
कामिनी' (नरेन्द्र शर्मा) १२०
काफ्का ३६, ४१, १४३
'काव्य मीमांसा' ८२
किर्केगार्द ४
क्रिश्चियना रोजेटी ११८
कीट्स ६२
'कुछ कविताएँ' १०२-१०६
'कुछ और कविताएँ' १०२-१०६
कुतबन ८३
कुमारेन्द्र पारसनाथसिंह ६१-२
कुमार विकल ६६
कुलकर्णी १४४
कुँवर नारायण ६७, ६६, ८१, ६५,
१००
केदारनाथ अग्रवाल ७२-७५, १४०
केदारनाथ सिंह ५१, ६२
केवरे १४३
केसरी कुमार ७७
कैलाश वाजपेयी १४, २२, २८,
४६, ५३, १३४
कोलाज ११, ३०, ४०, ५०
खलनायक ५१
'खोया हुआ प्रभा मण्डल' ६८, ७०
'गमले का पौधा' (भारत भूषण) ७२
'गलियाँ और सड़कें' (रामदरस मिश्र)
५४
गाडे १०१
ग्राम्या २, ११७
गिनो सेवेरिना ८६
गिलवर्ड सोरेन्टीनो २०, ३५
गिरिजाकुमार माथुर ३, १६, २०,
२२, ४० [illegible] ५०,
६०, [illegible] २०-
२२, [illegible]
१४०
गिंसबर्ग

गीत ४८, ५१
'ग्,ए १८६०', १००
गैब्रिएल मार्सेल ५, ६
'गैंडे की गवेषणा' (बच्चन) ७२
गोली १००, १०४
गोया १००
घनवाद ८९
घनानन्द ८४
'घोंघा' (गिरिजाकुमार माथुर) २२
चन्द्रकान्त देवताले १४, २२, ३०
चन्द्रकिशोर ७३
'चम्बल घाटी में' (मुक्तिबोध) १११
चावडा ९२, १००
चुगताई ८६
छायावाद २, १२-३, १८-२०, २५, २८, ३८-४१, ४४-५, ८३-६, ८९, ९१, ९७, ९९, १००, १०३-१०५, १०७-८, ११५-११६, १२२, १२७-२९, १४१
'जलयुद्ध' ११८
जगदीश गुप्त ६४, १००, १३६
जगदीश चतुर्वेदी १४, २७, ३०, ४६, १००
जगदीश वोरा ११०
जाज ३६, १४३
जार्ज ३६
जार्ड कीट १०१
जान ३६
जान मीरो १००
जायसी ८३
जितेन दे १०१
जेम्स जोयस ११७
जैनेन्द्रकुमार ११८
'जो' १३०, १३२-३३
'जौन बोनी' ७७
ताज़ी कविता ६४, ७८
'तार सप्तक' २, २०, २५-६, ३९, ४७, ५७, ६४, ९०-९१, १०६-७, ११०-१२, ११५-१३०, १३२, १३५
निरेमिअम ५
'तीसरा सप्तक' १३, ३८, ४३, ११२
थियोडोर रोथे १३६
थ्रीलर्म १४३
ह्वक्राक्यपदीय प्रणाली ९३
दाली १००
दास्तोवस्की ३
'ड्रामा' १३०
दिनेशनन्दिनी डालमिया १३५
द्विवेदी युग ८५-६
दुष्यन्तकुमार १३७
'दूसरा सप्तक' १०४, १०६, १२२
दूधनाथसिंह ५९
देव ८४
'देश, दिल्ली और अहम्' ७७
'दो चट्टानें' ६५, ६६, ७०, ७१
'दो रात' ६७
'दो हंसों की कथा' ७५
धर्मवीर भारती ४६,७०,८१,९१,९८, १३०, १३६
धर्मयुग ४३, ४७
'न्यूड' (मुद्राराक्षस) १४, २१
नई धारा ४०
नई कहानी ४०
नकेनवाद ६५, ७७
नगेन्द्र ७२, ८४
नन्दलाल घोष ८१, ८८, ९७
नचिकेता ६७, ६८, ६९

नया गीत २, २६, ४८, ४६
नयी कविता २, ३, ६-१३, १६, १८-२०, २२, २५-६, २८, ३०, ३७-४१, ४४-६, ४८-५१, ६४, ६६, ८०, ६०-६४, ६८-१०१, १०४, १०७-०८, १११, १२२, १२५
'नये कवि के प्रति' ७०
नरेन्द्र शर्मा ६०, १२०
नरेश मेहता ६१, ६२, ६७, ६८, १३०, १३६
नवगीत २६-७, ३०, ३७-६, ४८-५०, ७८
नव छायावादी ३७, ४१, ४४-६
नव भविष्यवादी ५१
नव रहस्यवाद १२, १४
नवीन ११८
नान पोएट्री १
नामवरसिंह १०२, १०६
नागार्जुन १२०, १२३
नास्तिभाव ७
निराला ८४, ८५, ८८, ६०, ११०, १२०
नियोट्रे हिमनिरट ८६
नोरले का उँट ७
नीरव १०७
नेमिचन्द्र जैन २०, ५४, ११२, ११७-१६, १२१, १२६, १२७, १२६
नेमिनिग ५
नेमिमन ८६
टर्नर ६३
[illegible] ११७
[illegible] ६४
[illegible] ४८, १०१
[illegible]
डी. एच. लारेंस ११८
डेगास ६०
डोनाल्ड हाले १३६
प्लूटो ६६
परमानन्द श्रीवास्तव १३, ५१
पराजित पीढ़ी १३
पद्माकर ८४
पंत २, ८४, ८५, ८६, ६०, ६८, ११७, १२७, १४१
'पृथ्वीकल्प' ६२
प्रकट सत्य ३, २१, २५, ३४
प्रकाश परिमल १४०, १४१
प्रगतिशील कविता (वाद) ३६, ८६, १०२, ११६
प्रतीकवाद ६३
प्रदीप चौधरी ३४
प्रभाकर माचवे ७, २०, २२, ४३, १११, ११५-१२०, १२२, १२८, १३०-३३
प्रभागचन्द्र शर्मा ११८, १२३
प्रभाववाद ६०, १०४
प्रययवाद ७७, ७८, ६२
प्रयोगवाद १६, ६०, ६२, ६७, १२१
'पाटल' १२८
पाँउ ३५
पाँउ बाली १००
पार्टीसिपेटिंग कला ६०
'प्रारम्भ' २०, ५४, ८०, ६६
फिराक ५५, ६२, ६३, ६८, १००, १४३
फिगरो [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

पेन्दोरेन नार्डीन्ज्या ४०, ७५
पेर्निन्गिन ८६
पिन्ट १३६
'फूल नहीं रंग बोलते हैं' ७२, ७३
फैन्टेसी ५६
फेरे (Fe're) ८७
बच्चन ६५-६७, ७०-७२, १४६
'बदलो पहले' ७५
'ब्रह्म राक्षस' ५४
बृहदारण्यक ६७
'बापू के तीन' ११८
बालकृष्ण पटेल १४४
बालकृष्ण राव १०२
ब्राउनिंग ११८
बिलग्रामी १३८
बिसमिल्ला खां ३४
ब्रियान एपस्टीन ३६
बीटनिक ६, १३, २०, २५, २७, ३२-३३, ३५, ५८, ७८
बीटल्स ३२, ३४, ३६, ५६
बीटगेशन १४३
बेन्द्रे १३८
बेजिल ६०
ब्रेस्त १०, ४५
'भग्नदूत' ११८
'भटका मेघ' १४
भविष्यवाद ८६
भारत भूषण अग्रवाल ५६, ७०, ७२, ६०, ११७-१६, १२२, १२४, १३०-३५
भूखी पीढ़ी (क्षुधित पीढ़ी) ६, २५, ३२, ३६, ५८, ६५
मैक्स अर्नेस्ट १००
मंजन ८३, ६८
मलयज ६६
माधवराव चौतरी ३३
'मरी हुई औरत के साथ संभोग' ५८
महादेवी वर्मा ४५, ८५, ६८, १०३, १०४, १२७
महेन्द्र कार्तिकेय ७५
माने ६०
मानवेन्द्रनाथ राय ११७
'माध्यम' १०२
मार्टिन हेडगर ५
मातिसे ८६, १००
'मास का फनिचर' ७२
मुक्ति गीत ५५
'मुक्ति प्रसंग' ५७-८
मुक्तिबोध ८, १४, १५, १७, ५४, ५६, ६१, ६८, १०२, १०५, १०७-११२, ११७, ११६, १२०, १२६-२८, १४३, १४६
मुनिरूपचन्द ७५
मुद्रा राक्षस १४, २१, ४०, ४२, ६१, ६२
'मेरे हाथ स्वीकारो' ५६
'मैं' ६, ३५
'मैं और तुम' ७७
'मैं और मेरा पिट्ठू' ७२
मोनालिसा ६७
मोहन सामन्त १४४
यथार्थवादी शैली ६३
यामिनी राय ८१, १०१
यास्पर्स ५
याज्ञवल्क्य ६७
यीट्स ३५
यूजीन-ओ-नील ६३
येवेतुशेन्कु १३६
रगान्धता ६०, ६८
रंगात्मक श्रवण १००

• श्याम परमार

अकविता के सन्दर्भ में सर्वाधिक चर्चित कवि एवं समीक्षक।

कुछ वर्षों प्राध्यापक, तत्पश्चात् आकाशवाणी (इन्दौर-भोपाल) में लोक-कार्यक्रम निर्देशक । आजकल आकाशवाणी के महानिदेशालय, नयी दिल्ली में लोक - संगीत विभाग में निर्देशक ।

कृतियाँ : 'भारतीय - लोक-साहित्य', 'लोकधर्मी नाट्य-परम्परा', 'मालवी लोक साहित्य एक अध्ययन' (शोध प्रबन्ध) एवं लोक-परक साहित्य विषयक अनेक पुस्तकें। अन्य पुस्तकों में 'विजय' (कविता संग्रह), 'पत्र के टुकड़े' (कहानी-संकलन), 'मोरझाल' (उपन्यास), 'जास्मीन ऑफ दी ब्लेक मॉडल', तथा 'ए बिब्लियाग्राफी ऑफ इण्डियन फोकलोअर एण्ड रिलेटेड सब्जेक्ट्स' (अंग्रेजी में)। 'हिन्दी साहित्य कोश' तथा 'हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास' (१६ वां भाग) के सहयोगी ।